

Chapter चार

दुर्वासा मुनि द्वारा अम्बरीष महाराज का अपमान

इस अध्याय में महाराज नभग एवं उनके पुत्र नाभाग तथा महाराज अम्बरीष का इतिहास वर्णित है।

मनु का पुत्र नभग हुआ जिसका पुत्र नाभाग कई वर्षों तक गुरुकुल में रहा। नाभाग की अनुपस्थिति में उसके भाइयों ने राज्य में उसे कोई हिस्सा न देकर सारी सम्पत्ति आपस में बाँट ली। जब वह घर लौटा तो उसके भाइयों ने उसके हिस्से के रूप में उसे अपना पिता दे दिया, किन्तु जब नाभाग अपने पिता के पास गया और अपने भाइयों के इस बर्ताव का वर्णन किया तो पिता ने कहा कि यह कपट है। उसने उसे सलाह दी कि तुम अपनी जीविका के लिए यज्ञशाला में जाओ और वहाँ दो मंत्रों का उच्चारण करो। नाभाग ने पिता की आज्ञा का पालन किया और इस प्रकार अंगिरा तथा अन्य मुनियों ने उस यज्ञ में संग्रहीत सारा धन उसे दे दिया। शिवजी ने नाभाग की परीक्षा लेने के लिए इस धन पर अपना दावा किया, किन्तु जब वे उसके आचरण से प्रसन्न हो गये तो सारा धन उसे वापस दे दिया।

नाभाग से अम्बरीष उत्पन्न हुए जो अत्यन्त शक्तिशाली एवं विख्यात भक्त थे। महाराज अम्बरीष सम्पूर्ण जगत के सम्राट थे लेकिन वे अपने ऐश्वर्य को नश्वर मानते थे। वे जानते थे कि ऐसा भौतिक ऐश्वर्य बद्धजीवन में गिराने वाला है अतएव वे इस ऐश्वर्य से विरक्त रहे। उन्होंने अपनी इन्द्रियों तथा मन को भगवान् की सेवा में लगाया। यह विधि युक्त-वैराग्य कहलाती है और भगवान् की पूजा के लिए सर्वथा उपयुक्त होती है। सम्राट होने से उनके पास प्रभूत ऐश्वर्य था; अतएव वे भक्ति भी ऐश्वर्यपूर्वक करते थे और अपने ऐश्वर्य के बावजूद उन्हें अपनी पत्नी, सन्तान या राज्य से कोई अनुराग नहीं था। वे अपनी इन्द्रियों तथा मन को सदैव भगवान् की सेवा में संलग्न रखते थे। अतएव भौतिक ऐश्वर्य का भोग तो क्या, उन्हें मुक्ति की भी कामना नहीं थी।

एक बार महाराज अम्बरीष ने एकादशी का व्रत रखा और वे वृन्दावन में भगवान् की पूजा कर रहे थे। एकादशी के अगले दिन द्वादशी को जब वे अपना व्रत तोड़ने वाले थे तो उनके घर महान् योगी दुर्वासा पधारे और उनके अतिथि बने। अम्बरीष ने दुर्वासा मुनि का स्वागत किया और मुनि ने भोजन करने का आमंत्रण स्वीकार किया। दोपहर में वे यमुना नदी में स्नान करने चले गये। वे वहाँ समाधि में तल्लीन होने

के कारण जल्दी लौट न पाये। किन्तु महाराज अम्बरीष ने जब देखा कि उनके व्रत तोड़ने का समय बीतता जा रहा है तो उन्होंने विद्वान ब्राह्मणों की सलाह से व्रत तोड़ने की औपचारिकता के तौर पर थोड़ा जल पी लिया। दुर्वासा मुनि योगशक्ति से इस घटना को जान गये अतः वे बहुत रुष्ट हुए। लौटकर वे महाराज अम्बरीष को फटकारने लगे और जब इतने से भी संतुष्ट नहीं हुए तो उन्होंने अपनी जटा के एक बाल से कालाग्नि जैसा असुर उत्पन्न किया। लेकिन भगवान् अपने भक्त की सदैव रक्षा करते हैं अतएव उन्होंने महाराज अम्बरीष की रक्षा करने के लिए अपना सुदर्शन चक्र भेजा जिसने तुरन्त ही उस अग्नि सदृश असुर को विनष्ट कर दिया और फिर वह चक्र अम्बरीष महाराज के ईर्ष्यालु दुर्वासा का पीछा करने लगा। दुर्वासा ब्रह्मलोक, शिवलोक तथा अन्य उच्चलोकों में दौते फिरे लेकिन वे सुदर्शन चक्र के कोप से अपने को न बचा सके। अन्त में वैकुण्ठ लोक जाकर उन्होंने भगवान् नारायण की शरण ली। किन्तु भगवान् नारायण भी ऐसे व्यक्ति को क्षमा नहीं कर सके जिसने एक वैष्णव के प्रति अपराध किया हो। ऐसे अपराध से क्षमा के लिए उसी वैष्णव की शरण में जाना होगा जिसका अपमान हुआ हो। क्षमा पाने का कोई अन्य उपाय नहीं है। इस तरह भगवान् नारायण ने दुर्वासा को सलाह दी कि वे महाराज अम्बरीष के पास जाकर उनसे क्षमायाचना करें।

श्रीशुक उवाच

नाभागो नभगापत्यं यं ततं भ्रातरः कविम् ।

यविष्ठं व्यभजन्दायं ब्रह्मचारिणमागतम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; नाभागः—नाभाग; नभग-अपत्यम्—जो महाराज नभग का पुत्र था; यम्—जिस; ततम्—पिता को; भ्रातरः—बड़े भाइयों ने; कविम्—विद्वान्; यविष्ठम्—सबसे छोटा; व्यभजन्—बाँट दिया; दायम्—धन; ब्रह्मचारिणम्—ब्रह्मचारी जीवन स्वीकार करके (नैष्ठिक); आगतम्—वापस आया।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : नभग का पुत्र नाभाग बहुत काल तक अपने गुरु के पास रहा। अतएव उसके भाइयों ने सोचा कि अब वह गृहस्थ नहीं बनना चाहता और वापस नहीं आएगा। फलस्वरूप उन्होंने अपने पिता की सम्पत्ति में उसका हिस्सा न रख कर उसे आपस में बाँट लिया। जब नाभाग अपने गुरु के स्थान से वापस आया तो उन्होंने उसके हिस्से के रूप में उसे अपने पिता को दे दिया।

तात्पर्य : ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो घर लौटकर विवाह करके गृहस्थ बन जाते हैं और दूसरे वे जो आजीवन ब्रह्मचारी बने रहने का व्रत लेते हैं और बृहद्रत कहलाते हैं। बृहद्रत ब्रह्मचारी गुरु के स्थान से वापस नहीं आता, अपितु वहीं रहता है और बाद में वहीं संन्यास ग्रहण कर लेता है। क्योंकि नाभाग अपने गुरु के स्थान से वापस नहीं आया अतः उसके भाइयों ने सोचा कि उसने बृहद्रत ब्रह्मचर्य ग्रहण कर लिया है। इसीलिए उन्होंने उसका हिस्सा सुरक्षित नहीं रखा और जब वह लौटा तो उसके हिस्से के रूप में उसे अपने पिता को दे दिया।

भ्रातरोऽभाङ्ग किं मह्यं भजाम पितरं तव ।

त्वां ममार्यास्तताभाङ्क्षुर्मा पुत्रक तदादृथाः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

भ्रातरः—हे मेरे भाइयो; अभाङ्ग—आपने हमारे पिता की सम्पत्ति का हिस्सा दिया है; किम्—क्या; मह्यम्—मुझको; भजाम—हम देते हैं; पितरम्—पिता को; तव—तुम्हारे हिस्से के रूप में; त्वाम्—तुम्हें; मम—मुझको; आर्याः—मेरे बड़े भाइयों ने; तत—हे पिता; अभाङ्क्षुः—हिस्सा दिया है; मा—नहीं; पुत्रक—हे पुत्र; तत्—इस वचन को; आदृथाः—कोई महत्त्व दो।

नाभाग ने पूछा, “मेरे भाइयो, आप लोगों ने पिता की सम्पत्ति में से मेरे हिस्से में मुझे क्या दिया है?” उसके भाई बोले, “हमने तुम्हारे हिस्से में पिताजी को रख छोड़ा है।” तब नाभाग अपने पिता के पास गया और बोला, “हे पिताजी, मेरे भाइयों ने मेरे हिस्से में आपको दिया है।” इस पर पिता ने उत्तर दिया, “मेरे बेटे, तुम इनके ठगने वाले शब्दों पर विश्वास मत करना। मैं तुम्हारी सम्पत्ति नहीं हूँ।”

इमे अङ्गिरसः सत्रमासतेऽद्य सुमेधसः ।

षष्ठं षष्ठमुपेत्याहः कवे मुह्यन्ति कर्मणि ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

इमे—ये सब; अङ्गिरसः—अंगिरा के वंशज; सत्रम्—यज्ञ; आसते—कर रहे हैं; अद्य—आज; सुमेधसः—जो अत्यन्त बुद्धिमान हैं; षष्ठम्—छठवाँ; षष्ठम्—छठवाँ; उपेत्य—प्राप्त करके; अहः—दिन; कवे—हे विद्वान् पुरुष; मुह्यन्ति—मोहग्रस्त होते हैं; कर्मणि—सकाम कर्मों में।

नाभाग के पिता ने कहा : अंगिरा के वंशज इस समय एक महान् यज्ञ सम्पन्न करने जा रहे हैं, किन्तु अत्यन्त बुद्धिमान होते हुए भी वे हर छठे दिन यज्ञ करते हुए मोहग्रस्त होंगे और अपने नैतिक कर्मों में त्रुटि करेंगे।

तात्पर्य : नाभाग अत्यन्त सरल हृदय था। अतएव जब वह अपने पिता के पास गया तो पिता ने दयावश अपने पुत्र को समझाया कि अपनी जीविका चलाने के लिए वह अंगिरा के वंशजों के पास जाये और यज्ञ करने में होने वाली उनकी त्रुटियों का लाभ उठाये।

तांस्त्वं शंसय सूक्ते द्वे वैश्वदेवे महात्मनः ।
ते स्वर्यन्तो धनं सत्रपरिशेषितमात्मनः ॥ ४ ॥
दास्यन्ति तेऽथ तानर्च्छं तथा स कृतवान्यथा ।
तस्मै दत्त्वा ययुः स्वर्गं ते सत्रपरिशेषणम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तान्—उन सबको; त्वम्—तुम; शंसय—वर्णन करो; सूक्ते—वैदिक स्तुतियाँ; द्वे—दोनों; वैश्वदेवे—भगवान् वैश्वदेव के विषय में; महात्मनः—महात्माओं को; ते—वे; स्वः यन्तः—अपने-अपने स्वर्गधामों को जाते हुए; धनम्—सम्पत्ति; सत्र-परिशेषितम्—यज्ञ के अन्त में शेष रहने वाली; आत्मनः—अपनी निजी सम्पत्ति; दास्यन्ति—दे देंगे; ते—तुमको; अथ—इसलिए; तान्—उनको; अर्च्छं—वहाँ जाओ; तथा—उस तरह से (अपने पिता की आज्ञानुसार); सः—वह (नाभाग); कृतवान्—सम्पन्न किया हुआ; यथा—अपने पिता की आज्ञानुसार; तस्मै—उसको; दत्त्वा—देकर; ययुः—चले गये; स्वर्गम्—स्वर्गलोक को; ते—वे सभी; सत्र-परिशेषणम्—यज्ञ का अवशेष।

नाभाग के पिता ने आगे कहा : “उन महात्माओं के पास जाओ और उन्हें वैश्वदेव सम्बन्धी दो वैदिक मंत्र सुनाओ। जब वे महात्मा यज्ञ समाप्त करके स्वर्गलोक को जा रहे होंगे तो वे यज्ञ में प्राप्त शेष दक्षिणा तुम्हें दे देंगे। अतएव तुम तुरन्त जाओ।” इस तरह नाभाग ने वैसा ही किया जैसा उसके पिता ने सलाह दी थी और अंगिरा वंश के सारे मुनियों ने उसे अपना सारा धन दे दिया और फिर वे स्वर्गलोक को चले गये।

तं कश्चित्स्वीकरिष्यन्तं पुरुषः कृष्णदर्शनः ।
उवाचोत्तरतोऽभ्येत्य ममेदं वास्तुकं वसु ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तम्—नाभाग को; कश्चित्—कोई; स्वीकरिष्यन्तम्—मुनियों द्वारा दिये गये धन को स्वीकार करते हुए; पुरुषः—व्यक्ति; कृष्ण-दर्शनः—देखने में काला; उवाच—कहा; उत्तरतः—उत्तर से; अभ्येत्य—आकर; मम—मेरा; इदम्—यह; वास्तुकम्—यज्ञ का अवशेष; वसु—सारा धन।

जब नाभाग सारा धन ले रहा था तो उत्तर दिशा से एक काला कलूटा व्यक्ति उसके पास आया और बोला, “इस यज्ञशाला की सारी सम्पत्ति मेरी है।”

ममेदमृषिभिर्दत्तमिति तर्हि स्म मानवः ।

स्यान्नौ ते पितरि प्रश्नः पृष्टवान्पितरं यथा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

मम—मेरा; इदम्—यह; ऋषिभिः—ऋषियों द्वारा; दत्तम्—प्रदत्त; इति—इस प्रकार; तर्हि—अतएव; स्म—निस्सन्देह; मानवः—नाभाग; स्यात्—हो; नौ—हमारा; ते—तुम्हारा; पितरि—पिता के पास; प्रश्नः—प्रश्न; पृष्टवान्—उसने भी पूछा; पितरम्—अपने पिता से; यथा—जैसी प्रार्थना की गई।

तब नाभाग ने कहा : “यह धन मेरा है। इसे ऋषियों ने मुझे प्रदान किया है।” जब नाभाग ने यह कहा तो उस काले कलूटे ने उत्तर दिया, “चलो तुम्हारे पिता के पास चलें और उनसे इसका निपटारा करने के लिए कहें।” तदनुसार नाभाग ने अपने पिता से पूछा।

यज्ञवास्तुगतं सर्वमुच्छिष्टमृषयः क्वचित् ।

चक्रुर्हि भागं रुद्राय स देवः सर्वमर्हति ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यज्ञ-वास्तु-गतम्—यज्ञशाला से सम्बन्धित वस्तुएँ; सर्वम्—सारी; उच्छिष्टम्—बची हुई; ऋषयः—ऋषिगण; क्वचित्—कभी, दक्षयज्ञ में; चक्रुः—ऐसा किया; हि—निस्सन्देह; भागम्—हिस्सा; रुद्राय—शिवजी को; सः—वह; देवः—देवता; सर्वम्—हर वस्तु का; अर्हति—पात्र है।

नाभाग के पिता ने कहा : ऋषियों ने दक्ष यज्ञशाला में जो भी आहुति दी थी, वह शिवजी को उनके भाग के रूप में दी गई थी। अतएव इस यज्ञशाला की प्रत्येक वस्तु निश्चित रूप से शिवजी की है।

नाभागस्तं प्रणम्याह तवेश किल वास्तुकम् ।

इत्याह मे पिता ब्रह्मञ्छिरसा त्वां प्रसादये ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

नाभागः—नाभाग ने; तम्—उसको (शिवजी को); प्रणम्य—प्रणाम करके; आह—कहा; तव—तुम्हारा; ईश—हे भगवान्; किल—निश्चय ही; वास्तुकम्—यज्ञशाला की हर वस्तु; इति—इस प्रकार; आह—कहा; मे—मेरे; पिता—पिता ने; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; शिरसा—सिर के बल नमन करके; त्वाम्—तुमसे; प्रसादये—कृपा की भीख माँगता हूँ।

तत्पश्चात् शिवजी को नमस्कार करने के बाद नाभाग ने कहा : हे पूज्यदेव, इस यज्ञशाला की प्रत्येक वस्तु आपकी है—ऐसा मेरे पिता का मत है। अब मैं विनम्रतापूर्वक आपके समक्ष अपना सिर झुकाकर आपसे कृपा की भीख माँगता हूँ।

यत्ते पितावदद्धर्मं त्वं च सत्यं प्रभाषसे ।

ददामि ते मन्त्रदृशो ज्ञानं ब्रह्म सनातनम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यत्—जो कुछ; ते—तुम्हारे; पिता—पिता ने; अवदत्—कहा है; धर्मम्—सत्य; त्वम् च—तुम भी; सत्यम्—सत्य; प्रभाषसे—बोल रहे हो; ददामि—दूँगा; ते—तुम्हें; मन्त्र-दृशः—मंत्र-विज्ञान को जानने वाले; ज्ञानम्—ज्ञान; ब्रह्म—दिव्य; सनातनम्—शाश्वत।

शिवजी ने कहा : तुम्हारे पिता ने जो कुछ कहा है वह सत्य है और तुम भी वही सत्य कह रहे हो।

अतएव वेदमंत्रों का ज्ञाता मैं तुम्हें दिव्य ज्ञान बतलाऊँगा।

गृहाण द्रविणं दत्तं मत्सत्रपरिशेषितम् ।

इत्युक्त्वान्तर्हितो रुद्रो भगवान्धर्मवत्सलः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

गृहाण—अब ग्रहण करो; द्रविणम्—सारा धन; दत्तम्—दिया गया; मत्-सत्र-परिशेषितम्—मेरे लिए किये गये यज्ञ का अवशेष; इति उक्त्वा—ऐसा कहकर; अन्तर्हितः—ओझल हो गये; रुद्रः—शिवजी; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली देवता; धर्म-वत्सलः—धार्मिक सिद्धान्तों का दृढ़ता से पालन करने वाले।

शिवजी ने कहा : “अब तुम यज्ञ का बचा सारा धन ले सकते हो क्योंकि मैं इसे तुम्हें दे रहा हूँ।” यह कहकर धार्मिक सिद्धान्तों में अटल रहने वाले शिवजी उस स्थान से अदृश्य हो गये।

य एतत्संस्मरेत्प्रातः सायं च सुसमाहितः ।

कविर्भवति मन्त्रज्ञो गतिं चैव तथात्मनः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; एतत्—इस घटना के विषय में; संस्मरेत्—स्मरण करेगा; प्रातः—प्रातःकाल; सायम् च—तथा सायंकाल; सुसमाहितः—अत्यन्त ध्यानपूर्वक; कविः—विद्वान्; भवति—बन जाता है; मन्त्र-ज्ञः—समस्त वैदिक मंत्रों का ज्ञाता; गतिम्—गन्तव्य, लक्ष्य; च—भी; एव—निस्सन्देह; तथा आत्मनः—स्वरूपसिद्ध व्यक्ति की तरह।

जो कोई इस कथा को प्रातःकाल एवं सायंकाल अत्यन्त ध्यानपूर्वक सुनता या स्मरण करता है वह निश्चय ही विद्वान्, वैदिक स्तोत्रों को समझने वाला एवं स्वरूपसिद्ध हो जाता है।

नाभागादम्बरीषोऽभून्महाभागवतः कृती ।

नास्पृशद्ब्राह्मणापोऽपि यं न प्रतिहतः क्वचित् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

नाभागात्—नाभाग से; अम्बरीषः—महाराज अम्बरीष ने; अभूत्—जन्म लिया; महा-भागवतः—अत्यन्त पूज्य भक्त; कृती—अत्यन्त विख्यात; न अस्पृशत्—स्पर्श भी नहीं कर पाया; ब्रह्म-शापः अपि—ब्राह्मण का शाप भी; यम्—जिसको (अम्बरीष को); न—न तो; प्रतिहतः—विफल हुआ; क्वचित्—किसी समय।

नाभाग से महाराज अम्बरीष ने जन्म लिया। महाराज अम्बरीष उच्च भक्त थे और अपने महान् गुणों के लिए विख्यात थे। यद्यपि उन्हें एक अच्युत ब्राह्मण ने शाप दिया था, किन्तु वह शाप उनका

स्पर्श भी न कर पाया।

श्रीराजोवाच

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि राजर्षेस्तस्य धीमतः ।
न प्राभूद्यत्र निर्मुक्तो ब्रह्मदण्डो दुरत्ययः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा परीक्षित ने पूछा; भगवन्—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ; श्रोतुम् इच्छामि—आपसे सुनना चाहता हूँ; राजर्षेः—महान् राजा अम्बरीष का; तस्य—उस; धीमतः—अत्यन्त गम्भीर; न—नहीं; प्राभूत्—कार्य कर सका; यत्र—जिस पर (अम्बरीष पर); निर्मुक्तः—मुक्त होकर; ब्रह्म-दण्डः—ब्राह्मण का शाप; दुरत्ययः—दुर्लभ्य।

राजा परीक्षित ने पूछा: हे महापुरुष, महाराज अम्बरीष निश्चय ही अत्यन्त उच्च एवं सच्चरित्र थे। मैं उनके विषय में सुनना चाहता हूँ। यह कितना आश्चर्यजनक है कि एक ब्राह्मण का दुर्लभ्य शाप उन पर अपना कोई प्रभाव नहीं दिखला सका।

श्रीशुक उवाच

अम्बरीषो महाभागः सप्तद्वीपवतीं महीम् ।
अव्ययां च श्रियं लब्ध्वा विभवं चातुलं भुवि ॥ १५ ॥
मेनेऽतिदुर्लभं पुंसां सर्वं तत्स्वप्नसंस्तुतम् ।
विद्वान्विभवनिर्वाणं तमो विशति यत्पुमान् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; अम्बरीषः—राजा अम्बरीष; महा-भागः—अत्यन्त भाग्यशाली राजा; सप्त-द्वीपवतीम्—सात द्वीपों वाले; महीम्—सारे विश्व को; अव्ययाम् च—तथा न घटने वाली; श्रियम्—सुन्दरता को; लब्ध्वा—प्राप्त करके; विभवम् च—तथा ऐश्वर्य; अतुलम्—असीम; भुवि—पृथ्वी पर; मेने—उसने निश्चय किया; अति-दुर्लभम्—बहुत कम प्राप्त; पुंसाम्—अनेक व्यक्तियों का; सर्वम्—सर्वस्व; तत्—जो; स्वप्न-संस्तुतम्—मानो स्वप्न में कल्पना की गई हो; विद्वान्—पूरी तरह जानते हुए; विभव-निर्वाणम्—उस ऐश्वर्य का विनाश; तमः—अज्ञान; विशति—प्रवेश करता है; यत्—जिससे; पुमान्—व्यक्ति।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : अत्यन्त भाग्यवान महाराज अम्बरीष ने सात द्वीपों वाले समस्त विश्व पर शासन किया और पृथ्वी का अक्षय असीम ऐश्वर्य तथा सम्पन्नता प्राप्त की। यद्यपि ऐसा पद विरले ही मिलता है, किन्तु महाराज अम्बरीष ने इसकी तनिक भी परवाह नहीं की क्योंकि उन्हें पता था कि ऐसा सारा ऐश्वर्य भौतिक है। ऐसा ऐश्वर्य स्वप्नतुल्य है और अन्ततोगत्वा विनष्ट हो जायेगा। राजा जानता था कि कोई भी अभक्त ऐसा ऐश्वर्य प्राप्त करके प्रकृति के तमोगुण में अधिकाधिक प्रविष्ट होता है।

तात्पर्य : भक्त के लिए भौतिक ऐश्वर्य नगण्य है, किन्तु अभक्त के लिए वही ऐश्वर्य अधिकाधिक बन्धन

का कारण होता है क्योंकि भक्त जानता है कि कोई भी भौतिक वस्तु नश्वर है जब कि अभक्त तथाकथित क्षणिक सुख को सर्वस्व मानकर आत्म-साक्षात्कार का मार्ग भूल जाता है। इस प्रकार अभक्त के लिए भौतिक ऐश्वर्य आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में बाधक होता है।

वासुदेवे भगवति तद्भक्तेषु च साधुषु ।

प्राप्तो भावं परं विश्वं येनेदं लोष्ट्रवत्स्मृतम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

वासुदेवे—सर्वव्यापी परम पुरुष में; भगवति—भगवान्; तत्-भक्तेषु—उनके भक्तों में; च—भी; साधुषु—साधु पुरुषों में; प्राप्तः—प्राप्त; भावम्—सम्मान तथा भक्ति; परम्—दिव्य; विश्वम्—सारा ब्रह्माण्ड; येन—जिससे (आध्यात्मिक चेतना); इदम्—यह; लोष्ट्र-वत्—पत्थर के टुकड़े के समान नगण्य; स्मृतम्—स्वीकार्य है (ऐसे भक्त द्वारा)।

महाराज अम्बरीष भगवान् वासुदेव के तथा भगवद्भक्त सन्त पुरुषों के महान् भक्त थे। इस भक्ति के कारण वे सारे विश्व को एक पत्थर के टुकड़े के समान नगण्य मानते थे।

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-

वर्चांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ।

करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु

श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ॥ १८ ॥

मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ

तद्भृत्यगात्रस्पर्शोऽङ्गसङ्गमम् ।

घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे

श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ॥ १९ ॥

पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे

शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने ।

कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया

यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सः—वह (महाराज अम्बरीष); वै—निस्सन्देह; मनः—जिसका मन; कृष्ण-पद-अरविन्दयोः—कृष्ण के दोनों चरणकमलों पर (स्थिर); वर्चांसि—जिसके शब्द; वैकुण्ठ-गुण-अनुवर्णने—कृष्ण का गुणानुवाद करने; करौ—दोनों हाथ; हरेः मन्दिर-मार्जन-आदिषु—हरि मन्दिर की सफाई करने जैसे कार्यो में; श्रुतिम्—जिसका कान; चकार—संलग्न; अच्युत—कभी न गिरने वाले कृष्ण के विषय में; सत्-कथा-उदये—दिव्य कथाओं के श्रवण करने में; मुकुन्द-लिङ्ग-आलय-दर्शने—मुकुन्दके अर्चाविग्रह, मन्दिर तथा पवित्र धामों का दर्शन करने में; दृशौ—उसकी दोनों आँखें; तत्-भृत्य—कृष्ण के सेवकों का; गात्र-स्पर्श—शरीर का स्पर्श करने में; अङ्ग-सङ्गमम्—उनके शरीर का स्पर्श; घ्राणम् च—तथा उनकी घ्राणेन्द्रिय; तत्-पाद—उनके चरणों के; सरोज—कमल के फूल की; सौरभे—सुगन्धि में; श्रीमत्-तुलस्याः—तुलसी दलों का; रसनाम्—उसकी जीभ; तत्-अर्पिते—भगवान् को चढ़ाये गये प्रसाद में; पादौ—दोनों पाँव; हरेः—भगवान्के; क्षेत्र—मन्दिर या वृन्दावन एवं द्वारकाधाम जैसे पवित्र स्थान; पद-अनुसर्पणे—उन स्थानों तक चलते हुए; शिरः—सिर; हृषीकेश—इन्द्रियों के स्वामी कृष्ण के; पद-अभिवन्दने—चरणकमल को नमस्कार करने में; कामम् च—

तथा उसकी इच्छाएँ; दास्ये—सेवक की भाँति लगी होने में; न—नहीं; तु—निस्सन्देह; काम-काम्यया—इन्द्रियतृप्ति की इच्छा से युक्त; यथा—जिस तरह; उत्तमश्लोक-जन-आश्रया—जो प्रह्लाद जैसे भक्त की शरण लेता है; रतिः—आसक्ति।

महाराज अम्बरीष सदैव अपने मन को कृष्ण के चरणकमलों का ध्यान करने में, अपने शब्दों को भगवान् का गुणगान करने में, अपने हाथों को भगवान् का मन्दिर झाड़ने-बुहारने में तथा अपने कानों को कृष्ण द्वारा या कृष्ण के विषय में कहे गये शब्दों को सुनने में लगाते रहे। वे अपनी आँखों को कृष्ण के अर्चाविग्रह, कृष्ण के मन्दिर तथा कृष्ण के स्थानों, यथा मथुरा तथा वृन्दावन, को देखने में लगाते रहे। वे अपनी स्पर्श-इन्द्रिय को भगवद्भक्तों के शरीरों का स्पर्श करने में, अपनी घ्राण-इन्द्रिय को भगवान् पर चढ़ाई गई तुलसी की सुगन्ध को सूँघने में और अपनी जीभ को भगवान् का प्रसाद चखने में लगाते रहे। उन्होंने अपने पैरों को पवित्र स्थानों तथा भगवत् मन्दिरों तक जाने में, अपने सिर को भगवान् के समक्ष झुकाने में और अपनी इच्छाओं को चौबीसों घण्टे भगवान् की सेवा करने में लगाया। निस्सन्देह, महाराज अम्बरीष ने अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए कभी कुछ भी नहीं चाहा। वे अपनी सारी इन्द्रियों को भगवान् से सम्बन्धित भक्ति के कार्यों में लगाते रहे। भगवान् के प्रति आसक्ति बढ़ाने की और समस्त भौतिक इच्छाओं से पूर्णतः मुक्त होने की यही विधि है।

तात्पर्य : भगवद्गीता (७.१) में भगवान् कहते हैं—*मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः*। इससे सूचित होता है कि मनुष्य को किसी भक्त के निर्देशन में या फिर सीधे भगवान् के निर्देशन में भक्ति करनी चाहिए। किन्तु गुरु के निर्देशन के बिना अपने आपको प्रशिक्षित कर पाना सम्भव नहीं है। अतएव श्रील रूपगोस्वामी के आदेशों के अनुसार भक्त का प्रथम कर्तव्य है कि वह कोई प्रामाणिक गुरु स्वीकार करे जो उसकी इन्द्रियों को भगवान् की दिव्य सेवा करने में लगा सके। भगवद्गीता (७.१) में भी भगवान् कहते हैं—*असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु*। दूसरे शब्दों में, यदि कोई भगवान् को पूरी तरह समझना चाहता है तो उसे महाराज अम्बरीष के चरण-चिह्नों का अनुसरण करते हुए भगवान् कृष्ण द्वारा दिये गये उपदेशों का पालन करना चाहिए। कहा गया है—*हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते*। भक्ति का अर्थ है इन्द्रियों के स्वामी, हृषीकेश या अच्युत कृष्ण की सेवा में इन्द्रियों को लगाना। ये शब्द इन श्लोकों में प्रयुक्त हैं। *अच्युत-सत्-कथोदये, हृषीकेश-पदाभिवन्दने*। अच्युत तथा हृषीकेश शब्द भगवद्गीता में भी प्रयुक्त हुए हैं। भगवद्गीता तो साक्षात् कृष्ण द्वारा कही गई कृष्णकथा है और श्रीमद्भागवत भी कृष्णकथा है क्योंकि

भागवत में वर्णित प्रत्येक कथा कृष्ण से सम्बन्धित है।

एवं सदा कर्मकलापमात्मनः

परेऽधियज्ञे भगवत्यधोक्षजे ।

सर्वात्मभावं विदधन्महीमिमां

तन्निष्ठविप्राभिहितः शशास ह ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार (भक्तिमय जीवन बिताते हुए); सदा—सदैव; कर्म—कलापम्—क्षत्रिय राजा के रूप में नियत कार्य; आत्मनः—अपना, स्वयं; परे—परब्रह्म में; अधियज्ञे—परम नियंत्रक, परम भोक्ता में; भगवति—भगवान् में; अधोक्षजे—इन्द्रियबोध से परे जो है उस; सर्व-आत्म-भावम्—भक्ति के विविध प्रकार; विदधत्—सम्पन्न करते हुए, अर्पित करते हुए; महीम्—पृथ्वीलोक को; इमाम्—इस; तत्-निष्ठ—जो भगवान् के निष्ठावान भक्त हैं; विप्र—ऐसे ब्राह्मणों द्वारा; अभिहितः—निर्देशित; शशास—शासन किया; ह—भूतकाल में।

राजा के रूप में अपने नियत कर्तव्यों का पालन करते हुए महाराज अम्बरीष अपने राजसी कार्यकलापों के फलों को सदैव भगवान् कृष्ण को अर्पित करते थे, जो प्रत्येक वस्तु के भोक्ता हैं और भौतिक इन्द्रियों के बोध के परे हैं। वे निश्चित रूप से निष्ठावान भगवद्भक्त ब्राह्मणों से सलाह लेते थे और इस प्रकार वे बिना किसी कठिनाई के पृथ्वी पर शासन करते थे।

तात्पर्य : भगवद्गीता (५.२९) में कहा गया है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

इस भौतिक जगत में लोग शान्ति तथा सम्पन्नता में रहने के लिए अतीव उत्सुक रहते हैं और भगवद्गीता के इस श्लोक में साक्षात् भगवान् यह शान्ति सूत्र प्रदान करते हैं—हर एक को समझना चाहिए कि भगवान् कृष्ण सभी लोकों के चरम स्वामी हैं; अतएव वे सभी कार्यों—राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक इत्यादि—के भोक्ता हैं। भगवान् ने भगवद्गीता में पूर्ण उपदेश दिया है। अम्बरीष महाराज ने आदर्श कार्यकारी अध्यक्ष के रूप में वैष्णव ब्राह्मणों से परामर्श करके एक वैष्णव की भाँति सारे विश्व पर शासन चलाया। शास्त्रों का कथन है कि भले ही ब्राह्मण अपने ब्राह्मण-कर्मों में कितना ही पटु तथा वैदिक ज्ञान में कितना ही पण्डित क्यों न हो, यदि वह वैष्णव नहीं है तो वह गुरुवत् उपदेश नहीं दे सकता।

षट्कर्मनिपुणो विप्रो मन्त्रतन्त्रविशारदः ।

अवैष्णवो गुरुर्न स्याद् वैष्णवः श्वपचो गुरुः ॥

अतएव जैसा कि यहाँ पर *तन्निष्ठ विप्राभिहितः* शब्दों से सूचित है महाराज अम्बरीष विशुद्ध भगवद्भक्त ब्राह्मणों से सलाह लेते थे क्योंकि केवल विद्वान पण्डित या कर्मकाण्ड में पटु सामान्य ब्राह्मण सलाह देने में कुशल नहीं होते।

आधुनिक समय में विधान सभाओं के सदस्य राज्य के कल्याण हेतु विधान बनाने के लिए अधिकृत होते हैं, किन्तु महाराज अम्बरीष के साम्राज्य के इस विवरण के अनुसार देश या विश्व का शासन उस कार्यकारी अध्यक्ष के द्वारा चलाया जाना चाहिए जिसके सारे सलाहकार भक्त ब्राह्मण हों। ऐसे सलाहकारों या विधायकों को न तो व्यावसायिक राजनीतिज्ञ होना चाहिए, न ही उन्हें अज्ञानी जनता द्वारा चुना जाना चाहिए प्रत्युत उन्हें राजा द्वारा नियुक्त किया जाना चाहिए। जब राजा अर्थात् राज्याध्यक्ष भक्त होता है और देश का शासन चलाने के लिए भक्त ब्राह्मणों के आदेशों का पालन करता है तो हर व्यक्ति शान्त तथा समृद्ध होगा। जब राजा तथा उसके सलाहकार पूर्ण भक्त होते हैं तो राज्य में कोई अमंगल नहीं हो सकता। सारे नागरिकों को भगवद्भक्त बनना चाहिए जिससे उनका चरित्र स्वतः उत्तम हो—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।

हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥

“जिसकी भगवान् में अविचल भक्ति होती है उसमें देवताओं के सारे गुण रहते हैं। किन्तु जो भगवद्भक्त नहीं है उसमें केवल भौतिक गुण आ पाते हैं जिनका कोई महत्त्व नहीं है। इसका कारण यह है कि उसका मन मानसिक धरातल पर उड़ता रहता है और उसका चमकीली भौतिक शक्ति द्वारा आकृष्ट होना निश्चित रूप से सम्भव है।” (*भागवत* ५.१८.१२) कृष्णभक्त राजा के निर्देशन में, जनता भक्त बन जायेगी और तब जीवन को सुधारने के लिए राज्य में नित्य नये विधान बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। यदि जनता को भक्त बनने का प्रशिक्षण दिया जाय तो वह स्वतः शान्त तथा निष्कपट बनती है और यदि जनता भक्तों की मंत्रणा लेने वाले भक्त राजा का पथ-प्रदर्शन प्राप्त करती है तो वह राज्य भौतिक जगत में नहीं अपितु आध्यात्मिक जगत में होता है। अतएव विश्व के सारे राज्यों को महाराज अम्बरीष के शासन का आदर्श ग्रहण करना चाहिए, जिसका वर्णन यहाँ पर हुआ है।

ईजेऽश्वमेधैरधियज्ञमीश्वरं

महाविभूत्योपचिताङ्गदक्षिणैः ।

ततैर्वसिष्ठासितगौतमादिभिर्

धन्वन्यभिस्त्रोतमसौ सरस्वतीम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

ईजे—पूजा किया; अश्वमेधेः—अश्वमेध यज्ञ करके; अधियज्ञम्—सारे यज्ञों के स्वामी को तुष्ट करने के लिए; ईश्वरम्—भगवान् को; महा-विभूत्या—महान् ऐश्वर्य से; उपचित-अङ्ग-दक्षिणैः—समस्त सामग्री तथा ब्राह्मणों को दी गई दक्षिणा समेत; ततैः—सम्पन्न किया; वसिष्ठ-असित-गौतम-आदिभिः—वसिष्ठ, असित तथा गौतम जैसे ब्राह्मणों के द्वारा; धन्वनि—रेगिस्तान में; अभिस्त्रोतम्—नदी के जल से प्लावित; असौ—महाराज अम्बरीष; सरस्वतीम्—सरस्वती नदी के तट पर।

महाराज अम्बरीष ने उस मरुस्थल में अश्वमेध यज्ञ जैसे महान् यज्ञ सम्पन्न किये जिसमें से होकर सरस्वती नदी बहती है और समस्त यज्ञों के स्वामी भगवान् को प्रसन्न किया। ऐसे यज्ञ महान् ऐश्वर्य तथा उपयुक्त सामग्री द्वारा तथा ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर सम्पन्न किये जाते थे और इन यज्ञों का निरीक्षण वसिष्ठ, असित तथा गौतम जैसे महापुरुषों द्वारा किया जाता था जो यज्ञों के सम्पन्नकर्ता राजा के प्रतिनिधि होते थे।

तात्पर्य : जब कोई वैदिक विधि से यज्ञ सम्पन्न करता है तो उसे पटु ब्राह्मणों की आवश्यकता होती है जिन्हें याज्ञिक ब्राह्मण कहते हैं। किन्तु कलियुग में ऐसे ब्राह्मणों का अभाव है, अतएव कलियुग में शास्त्रों द्वारा संकीर्तनयज्ञ करने की संस्तुति की जाती है (यज्ञै संकीर्तनप्राथैर्यजन्ति हि सुमेधसः)। कलियुग में याज्ञिक ब्राह्मणों का अभाव होने के कारण असम्भव यज्ञों को सम्पन्न करने में धन का अपव्यय न करके बुद्धिमान मनुष्य संकीर्तन यज्ञ करता है। यदि भगवान् को प्रसन्न करने के लिए ठीक से यज्ञ नहीं किये जाते तो वर्षा अभाव हो जाता है (यज्ञाद् भवति पर्जन्यः) अतएव यज्ञ सम्पन्न करना अनिवार्य है। यज्ञ के बिना वर्षा का अभाव रहेगा और इस अभाव से अन्न उत्पन्न नहीं होगा जिससे दुर्भिक्ष पड़ेगा। इसलिए राजा का कर्तव्य है कि वह अन्न का उत्पादन बनाये रखने के लिए अश्वमेध यज्ञ जैसे विभिन्न यज्ञ सम्पन्न करता रहे। अन्नाद् भवन्ति भूतानि। अन्न के बिना मनुष्य तथा पशु दोनों ही भूखों मरेंगे; अतएव राज्य के लिए आवश्यक है कि यज्ञ सम्पन्न होते रहें क्योंकि यज्ञ होने से जनता भरपेट भोजन प्राप्त करेगी। ब्राह्मणों तथा याज्ञिक पुरोहितों को कुशल सेवा के लिए पर्याप्त धन दिया जाना चाहिए। यह दान दक्षिणा कहलाता है। अम्बरीष महाराज राजा होने के नाते इन सारे यज्ञों को वसिष्ठ, गौतम, असित जैसे महापुरुषों से सम्पन्न कराते थे।

किन्तु वे स्वयं भक्ति में लगे रहते थे जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है (स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः) । राजा का यह धर्म है कि वह यह देखे कि सारा कामकाज समुचित मार्ग-निर्देशन में हो रहा है और उसे महाराज अम्बरीष की भाँति आदर्श भक्त होना चाहिए। राजा का कर्तव्य है कि वह यह देखे कि रेगिस्तान में भी अन्न उत्पन्न हो, अन्य स्थानों के विषय में तो क्या कहना ?।

यस्य क्रतुषु गीर्वाणैः सदस्या ऋत्विजो जनाः ।
तुल्यरूपाश्चानिमिषा व्यदृश्यन्त सुवाससः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके (अम्बरीष के); क्रतुषु—(उसके द्वारा सम्पन्न) यज्ञों में; गीर्वाणैः—देवताओं के साथ; सदस्याः—यज्ञ करने वाले सदस्य; ऋत्विजः—पुरोहित; जनाः—तथा अन्य कुशल व्यक्ति; तुल्य-रूपाः—समान रूप वाले; च—तथा; अनिमिषाः—देवताओं की तरह निर्निमेष दृष्टि से, बिना पलक भाँजे; व्यदृश्यन्त—देखे जाकर; सु-वाससः—कीमती वस्त्रों से सज्जित ।

महाराज अम्बरीष द्वारा आयोजित यज्ञ में सभा के सदस्य तथा पुरोहित (विशेष रूप से होता, उद्गाता, ब्रह्मा तथा अध्वर्यु) वस्त्रों से बहुत अच्छी तरह से सज्जित थे और वे सब देवताओं की तरह लग रहे थे। उन्होंने उत्सुकतापूर्वक यज्ञ को समुचित रूप से सम्पन्न कराया।

स्वर्गो न प्रार्थितो यस्य मनुजैरमरप्रियः ।
शृण्वद्भिरुपगायद्भिरुत्तमश्लोकचेष्टितम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

स्वर्गः—स्वर्गलोक का जीवन; न—नहीं; प्रार्थितः—इच्छा का विषय; यस्य—जिसका (अम्बरीष महाराज का); मनुजैः—नागरिकों (प्रजा) द्वारा; अमर-प्रियः—देवताओं तक को परम प्रिय; शृण्वद्भिः—सुनने के आदी; उपगायद्भिः—तथा कीर्तन करने के आदी; उत्तमश्लोक—भगवान् के; चेष्टितम्—महिमामय कार्यकलापों के विषय में।

महाराज अम्बरीष की प्रजा भगवान् के महिमामय कार्यकलापों के विषय में कीर्तन एवं श्रवण करने की आदी थी। इस प्रकार वह कभी भी देवताओं के परम प्रिय स्वर्गलोक में जाने की इच्छा नहीं करती थी।

तात्पर्य : वह शुद्ध भक्त जिसे भगवान् के पवित्र नाम, यश, गुण, रूप तथा साज-सामान के विषय में कीर्तन एवं श्रवण करने का प्रशिक्षण मिला रहता है कभी भी स्वर्गलोक जाने का इच्छुक नहीं रहता, भले ही वह देवताओं को परम प्रिय क्यों न हो।

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति ।

स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥

“भगवान् नारायण की एकान्त भक्ति में लगे भक्तगण जीवन की किसी भी परिस्थिति से कभी नहीं डरते। भक्त के लिए स्वर्ग, मुक्ति तथा नरकलोक एक समान हैं।” (भागवत ६.१७.२८) भक्त सदैव वैकुण्ठ में रहता है अतएव उसे किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं रहती। वह अकाम कहलाता है क्योंकि उसे भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति करने के अतिरिक्त किसी वस्तु की इच्छा नहीं रहती। चूँकि महाराज अम्बरीष महाभागवत थे अतएव उन्होंने अपनी प्रजा को ऐसी शिक्षा दी थी कि उनकी प्रजा की रुचि किसी भौतिक वस्तु में, यहाँ तक कि स्वर्ग के सुख में भी, नहीं थी।

संवर्धयन्ति यत्कामाः स्वाराज्यपरिभाविताः ।

दुर्लभा नापि सिद्धानां मुकुन्दं हृदि पश्यतः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

संवर्धयन्ति—सुख को बढ़ाती हैं; यत्—क्योंकि; कामाः—ऐसी इच्छाएँ; स्वा-राज्य—भगवान् की सेवा करने के अपने स्वाभाविक पद पर स्थित; परिभाविताः—ऐसी इच्छाओं से पूरित; दुर्लभाः—दुर्लभ; न—नहीं; अपि—भी; सिद्धानाम्—महान् योगियों के; मुकुन्दम्—कृष्ण को; हृदि—हृदय में; पश्यतः—उनका दर्शन करने के आदी व्यक्ति।

जो लोग भगवान् की सेवा करने के दिव्य सुख से परिपूर्ण हैं वे महान् योगियों की उपलब्धियों में भी कोई रुचि नहीं रखते क्योंकि ऐसी उपलब्धियाँ उस भक्त के द्वारा अनुभव किये गये दिव्य आनन्द को वर्धित नहीं करतीं जो अपने हृदय के भीतर सदैव कृष्ण का चिन्तन करता रहता है।

तात्पर्य : शुद्ध भक्त न केवल उच्च लोकों को जाने में अपितु योग की सिद्धियों तक में अरुचि रखता है। असली सिद्धि तो भक्ति है। निर्विशेष ब्रह्म में तल्लीन होने से प्राप्त सुख तथा योग की आठ सिद्धियों (अणिमा, लघिमा, प्राप्ति इत्यादि) से मिलने वाले सुख भक्त को हर्षित नहीं करते। जैसा कि श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती ने कहा है—

कैवल्यं नरकायते त्रिदशपूराकाशपुष्पायते

दुर्दान्तेन्द्रियकालसर्पपटली प्रोत्खातदंष्ट्रायते ।

विश्वं पूर्णसुखायते विधिमहेन्द्रादिश्च कीटायते

यत्कारुण्यकटाक्षवैभववतां तं गौरमेव स्तुमः ॥

(चैतन्य चन्द्रामृत ५)

जब भक्त को भगवान् श्रीचैतन्य की कृपा से भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति करने का पद मिल जाता है तो वह निर्विशेष ब्रह्म को नरकतुल्य मानता है और स्वर्गलोक के भौतिक सुख को मायाजाल मानता है। जहाँ तक योग की सिद्धियों की बात है, भक्त इन्हें दन्तहीन विषैले सर्प के समान मानता है। योगी की विशेष चिन्ता इन्द्रियों को वश में करने की रहती है, किन्तु भक्त की इन्द्रियाँ भगवान् की सेवा में लगी रहने के कारण (*हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते*) उसे इन्द्रियों को पृथक् रूप से वश में करने की आवश्यकता नहीं रहती। जो लोग भौतिकता में लगे हैं उनके लिए इन्द्रियों को वश में करने की आवश्यकता पड़ती है लेकिन भक्त की इन्द्रियाँ तो भगवत्सेवा में सदैव लगी रहती हैं जिसका अर्थ है कि वे पहले से ही वश में हो चुकी हैं। *परं दृष्ट्वा निवर्तते* (*भगवद्गीता* २.५९)। भक्त की इन्द्रियाँ भौतिक भोग के द्वारा आकृष्ट नहीं होतीं। यद्यपि यह जगत दुःखमय है, किन्तु भक्त इस जगत को भी आध्यात्मिक मानता है क्योंकि प्रत्येक वस्तु भगवान् की सेवा में लगी रहती है। भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों का अन्तर सेवा का भाव है। *निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते*—जब भगवान् की सेवा करने का भाव नहीं होता तो मनुष्य के कार्यकलाप भौतिक होते हैं।

प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः ।

मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते ॥

(*भक्तिरसामृत सिन्धु* १.२.२५६)

जो कुछ भगवान् की सेवा में नहीं लगा है वह भौतिक है और जो कुछ इस तरह लगा है उसका परित्याग नहीं होना चाहिए। एक गगनचुम्बी प्रासाद तथा एक मन्दिर के निर्माण के पीछे एक-जैसा उत्साह हो सकता है लेकिन प्रयास भिन्न-भिन्न होते हैं क्योंकि एक प्रयास भौतिक होता है और दूसरा आध्यात्मिक है। आध्यात्मिक कार्यों को भौतिक कार्यकलाप समझ कर भ्रम में नहीं पडना चाहिए और इन्हें त्यागना नहीं चाहिए। भगवान् हरि से सम्बन्धित कोई भी वस्तु भौतिक नहीं होती। जो भक्त इस पर विचार करता है वह सदैव आध्यात्मिक कार्यों को प्राप्त होता है अतएव वह भौतिक कार्यों के द्वारा आकृष्ट नहीं होता (*परं दृष्ट्वा निवर्तते*)।

स इत्थं भक्तियोगेन तपोयुक्तेन पार्थिवः ।
स्वधर्मेण हरिं प्रीणन्सर्वान्कामान्शनैर्जहौ ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सः—उस (अम्बरीष) ; इत्थम्—इस प्रकार; भक्ति-योगेन—भगवान् की भक्ति के द्वारा; तपः-युक्तेन—जो तपस्या की श्रेष्ठ विधि भी है; पार्थिवः—राजा ने; स्व-धर्मेण—अपने वैधानिक कार्यकलापों से; हरिम्—परमेश्वर को; प्रीणन्—सन्तुष्ट करते हुए; सर्वान्—सभी प्रकार की; कामान्—भौतिक इच्छाओं को; शनैः—धीरे-धीरे; जहौ—त्याग दिया ।

इस तरह इस लोक के राजा महाराज अम्बरीष ने भगवान् की भक्ति की और इस प्रयास में उन्होंने कठिन तपस्या की। उन्होंने अपने वैधानिक कार्यकलापों से भगवान् को सदैव प्रसन्न करते हुए धीरे-धीरे सारी भौतिक इच्छाओं का परित्याग कर दिया ।

तात्पर्य : भक्ति के अभ्यास में की गई कठिन तपस्याएँ कई प्रकार की होती हैं। उदाहरणार्थ, मन्दिर में अर्चाविग्रह की पूजा में श्रम-साध्य कार्य करने होते हैं। श्रीविग्रहाराधननित्यनानाशृंगारतन्मन्दिरमार्जनादौ। मनुष्य को अर्चाविग्रह को अलंकृत करना चाहिए, मन्दिर साफ करना चाहिए, गंगा तथा यमुना से जल लाना चाहिए, नित्यकर्म करते रहना चाहिए, कई बार आरती करनी चाहिए, अर्चाविग्रह के लिए उत्कृष्ट भोजन तैयार करना चाहिए, वस्त्र तैयार करने चाहिए, आदि-आदि। इस तरह विविध कार्यों में सदैव लगे रहना चाहिए। इसमें जो श्रम लगता है वह निश्चय ही, तपस्या है। इसी प्रकार प्रचारकार्य करने, साहित्य तैयार करने, नास्तिकों को उपदेश देने तथा द्वार-द्वार जाकर साहित्य बाँटने में जो कठिन श्रम निहित रहता है वह निश्चय ही तपस्या है (तपोयुक्तेन) । तपो दिव्यं पुत्रका । ऐसी तपस्या आवश्यक है। येन सत्त्वं शुद्धयेत्। भक्ति में ऐसी तपस्या से मनुष्य भौतिकवादिता से पवित्र हो जाता है (कामान् शनैर्जहौ) । निस्सन्देह, ऐसी तपस्या से भक्ति की स्वाभाविक स्थिति प्राप्त होती है। इस तरह मनुष्य अपनी भौतिक इच्छाएँ त्याग सकता है और ज्योंही वह भौतिक इच्छाओं से मुक्त हो जाता है त्योंही वह जन्म, जरा, मृत्यु तथा रोग की पुनरावृत्ति से छूट जाता है ।

गृहेषु दारेषु सुतेषु बन्धुषु
द्विपोत्तमस्यन्दनवाजिवस्तुषु ।
अक्षय्यरत्नाभरणाम्बरादिष्व्
अनन्तकोशेष्वकरोदसन्मतिम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

गृहेषु—घरों में; दारेषु—स्त्रियों में; सुतेषु—सन्तानों में; बन्धुषु—मित्रों तथा सम्बन्धियों में; द्विप-उत्तम—श्रेष्ठ शक्तिशाली हाथियों में; स्यन्दन—उत्तम रथों में; वाजि—उत्तम घोड़ों में; वस्तुषु—ऐसी सारी वस्तुओं में; अक्षय्य—जिनका महत्त्व कभी घटता नहीं; रत्न—रत्नों में; आभरण—गहनों में; अम्बर-आदिषु—कपड़े, गहने इत्यादि में; अनन्त-कोशेषु—अक्षय खजाने में; अकरोत्—स्वीकार किया; असत्-मतिम्—अनासक्ति।

महाराज अम्बरीष ने घरेलू कार्यों, पत्नियों, सन्तानों, मित्रों तथा सम्बन्धियों, श्रेष्ठ शक्तिशाली हाथियों, सुन्दर रथों, गाड़ियों, घोड़ों, अक्षय रत्नों, गहनों, वस्त्रों तथा अक्षय कोश के प्रति सारी आसक्ति छोड़ दी। उन्होंने इन वस्तुओं को नश्वर तथा भौतिक मानकर इनकी आसक्ति छोड़ दी।

तात्पर्य : अनासक्तस्य विषयान् यथार्हम् उपयुञ्जतः। जहाँ तक भौतिक वस्तुएँ भक्ति के काम आयें उन्हें स्वीकार कर लेना चाहिए। आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम्। आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्य-स्य वर्जनम्। उपदेश देते समय अनेक भौतिक कहलाने वाली वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है। भक्त को घर, पत्नी, सन्तान, मित्र, मोटरकार जैसी भौतिक वस्तुओं के प्रति आसक्त नहीं होना चाहिए। उदाहरणार्थ, महाराज अम्बरीष के पास ये सारी वस्तुएँ थीं, किन्तु वे उनके प्रति आसक्त नहीं थे। यह भक्तियोग का प्रभाव है। भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र च (भागवत ११.२.४२)। जो भक्ति में बढ़ा-चढ़ा है वह इन्द्रिय-भोग के लिए भौतिक वस्तुओं के प्रति आसक्त नहीं रहता, किन्तु उपदेश देने के लिए, भगवान् की महिमा का प्रसार करने में वह बिना आसक्ति के ऐसी वस्तुएँ स्वीकार करता है। अनासक्तस्य विषयान् यथार्हम् उपयुञ्जतः। ऐसी प्रत्येक वस्तु जहाँ तक वह कृष्ण की सेवा में लगाई जा सके, उपयोग की जानी चाहिए।

तस्मा अदाद्धरिश्चक्रं प्रत्यनीकभयावहम् ।

एकान्तभक्तिभावेन प्रीतो भक्ताभिरक्षणम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तस्मै—उसको (महाराज अम्बरीष को); अदात्—प्रदान किया; हरिः—भगवान् ने; चक्रम्—अपना चक्र; प्रत्यनीक-भय-आवहम्—जो भगवान् तथा उनके भक्तों के शत्रुओं के लिए अत्यन्त भयावह है; एकान्त-भक्ति-भावेन—अनन्य भक्ति करने के कारण; प्रीतः—भगवान् इस प्रकार प्रसन्न होकर; भक्त-अभिरक्षणम्—अपने भक्तों की रक्षा के लिए।

महाराज अम्बरीष की अनन्य भक्ति से अतीव प्रसन्न होकर भगवान् ने राजा को अपना चक्र प्रदान किया जो शत्रुओं के लिए भयावह है और जो शत्रुओं तथा विपत्तियों से भक्तों की सदैव रक्षा करता है।

तात्पर्य : सदैव भगवान् की सेवा में लगे रहने के कारण, हो सकता है कि भक्त अपनी रक्षा में पटु न हो, किन्तु भगवान् के चरणकमलों पर पूर्णाश्रित रहने से वह भगवान् द्वारा अपनी रक्षा किये जाने के लिए

आश्वस्त रहता है। प्रह्लाद महाराज ने (भागवत ७.९.४३) कहा है—

नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्या-

स्त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः ।

भक्त भगवान् की सेवा करने के दिव्य आनन्द के सागर में सदैव मग्न रहता है; अतएव वह भौतिक जगत की किसी विपरीत स्थिति से कभी भयभीत नहीं होता। भगवान् यह भी वचन देते हैं— कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति—हे अर्जुन! तुम संसार को घोषित कर दो कि भगवान् का भक्त कभी विनष्ट नहीं होता (भगवद्गीता ९.३१)। भक्तों की रक्षा के लिए कृष्ण का सुदर्शन चक्र सदैव तैयार रहता है। यह चक्र अभक्तों के लिए अत्यन्त भयावह है (प्रत्यनीकभयावहम्)। इसलिए महाराज अम्बरीष के भक्ति-संलग्न रहने पर भी उनका साम्राज्य सभी प्रकार के संकट से मुक्त था।

आरिराधयिषुः कृष्णं महिष्या तुल्यशीलया ।

युक्तः सांवत्सरं वीरो दधार द्वादशीव्रतम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

आरिराधयिषुः—पूजा करने के लिए इच्छुक; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण को; महिष्या—अपनी रानी सहित; तुल्य-शीलया—महाराज अम्बरीष के ही समान योग्य; युक्तः—साथ-साथ; सांवत्सरम्—एक वर्ष तक; वीरः—राजा ने; दधार—स्वीकार किया; द्वादशी-व्रतम्—एकादशी तथा द्वादशी मनाने का व्रत।

महाराज अम्बरीष ने अपने ही समान योग्य अपनी रानी के साथ भगवान् कृष्ण की पूजा करने के लिए एक वर्ष तक एकादशी तथा द्वादशी का व्रत रखा।

तात्पर्य : एकादशी व्रत तथा द्वादशी व्रत रखने का अर्थ है भगवान् को प्रसन्न करना। जो लोग कृष्णभावनामृत में प्रगति करने के इच्छुक हैं उन्हें एकादशी व्रत नियमपूर्वक रखना चाहिए। महाराज अम्बरीष की पत्नी भी राजा के ही समान सुयोग्य थी, इसलिए महाराज अम्बरीष के लिए अपने जीवन को गृहस्थी के कार्यों में व्यस्त रखना संभव हो सका। अतएव इस प्रसंग में तुल्यशीलया शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जब तक पत्नी अपने पति के समान ही योग्य नहीं होती तब तक गृहस्थी के कार्यों को चला पाना अत्यन्त कठिन होता है। चाणक्य पण्डित की सलाह है कि ऐसी स्थिति में मनुष्य को तुरन्त ही गृहस्थ जीवन त्यागकर वानप्रस्थ या संन्यासी बन जाना चाहिए।

माता यस्य गृहे नास्ति भार्या चाप्रियवादिनी ।

अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम् ॥

जिस व्यक्ति के घर में माता न हो और जिसकी पत्नी उसके अनुकूल न हो, उसे तुरन्त ही जंगल में चले जाना चाहिए। चूँकि मनुष्य जीवन मात्र आध्यात्मिक प्रगति के लिए है अतएव उसकी पत्नी को इस प्रयास में सहायक बनना चाहिए अन्यथा गृहस्थ जीवन की कोई आवश्यकता नहीं है।

व्रतान्ते कार्तिके मासि त्रिरात्रं समुपोषितः ।

स्नातः कदाचित्कालिन्द्यां हरिं मधुवनेऽर्चयत् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

व्रत-अन्ते—व्रत रखने के अन्त में; कार्तिके—कार्तिक (अक्टूबर-नवम्बर) मास में; मासि—महीने में; त्रि-रात्रम्—तीन रातों तक; समुपोषितः—पूर्णतया व्रत रखने के पश्चात्; स्नातः—स्नान करके; कदाचित्—कभी; कालिन्द्याम्—यमुना नदी के तट पर; हरिम्—भगवान् को; मधुवने—वृन्दावन के मधुवन नामक क्षेत्र में; अर्चयत्—भगवान् की पूजा की।

एक वर्ष तक उस व्रत को रखने के बाद, तीन रातों तक उपवास रखकर तथा यमुना में स्नान करके महाराज अम्बरीष ने कार्तिक के महीने में भगवान् हरि की मधुवन में पूजा की।

महाभिषेकविधिना सर्वोपस्करसम्पदा ।

अभिषिच्याम्बराकल्पैर्गन्धमाल्यार्हणादिभिः ॥ ३१ ॥

तद्गतान्तरभावेन पूजयामास केशवम् ।

ब्राह्मणांश्च महाभागान्सिद्धार्थानपि भक्तितः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

महा-अभिषेक-विधिना—अर्चाविग्रह को नहलाने के अनुष्ठान द्वारा; सर्व-उपस्कर-सम्पदा—अर्चाविग्रह की पूजा की सारी सामग्री से; अभिषिच्य—नहलाकर; अम्बर-आकल्पैः—सुन्दर वस्त्रों तथा गहनों से; गन्ध-माल्य—सुगन्धित फूल की मालाओं से; अर्हण-आदिभिः—अर्चाविग्रह की पूजा की अन्य सामग्री सहित; तद्-गत-अन्तर-भावेन—भक्ति से पूरित अपने मन से; पूजयाम् आस—उसने पूजा की; केशवम्—कृष्ण को; ब्राह्मणान् च—तथा ब्राह्मणों को; महा-भागान्—अत्यन्त भाग्यशाली; सिद्ध-अर्थान्—आत्मतुष्ट, किसी पूजा के लिए प्रतीक्षा किये बिना; अपि—भी; भक्तितः—अत्यन्त भक्तिपूर्वक।

महाभिषेक के विधि-विधानों के अनुसार महाराज अम्बरीष ने सारी सामग्री से भगवान् कृष्ण के अर्चाविग्रह को स्नान कराया। फिर उन्हें सुन्दर वस्त्रों, आभूषणों, सुगन्धित फूलों की मालाओं तथा पूजा की अन्य सामग्री से अलंकृत किया। उन्होंने ध्यानपूर्वक तथा भक्तिपूर्वक कृष्ण की तथा भौतिक इच्छाओं से मुक्त परम भाग्यशाली ब्राह्मणों की पूजा की।

गवां रुक्मविषाणीनां रूप्याङ्घ्रीणां सुवाससाम् ।

पयःशीलवयोरूपवत्सोपस्करसम्पदाम् ॥ ३३ ॥

प्राहिणोत्साधुविप्रेभ्यो गृहेषु न्यर्बुदानि षट् ।

भोजयित्वा द्विजानग्रे स्वाद्वन्नं गुणवत्तमम् ॥ ३४ ॥

लब्धकामैरनुज्ञातः पारणायोपचक्रमे ।

तस्य तर्हीतिथिः साक्षादुर्वासा भगवानभूत् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

गवाम्—गाएँ; रुक्म-विषाणीनाम्—सोने के पत्तर से मढ़े सींगों वाली; रूप्य-अङ्घ्रीणाम्—चाँदी के पत्तर से मढ़े खुरों वाली; सु-वाससाम्—वस्त्रों से सुसज्जित; पयः-शील—खूब दूध देने वाली; वयः—तरुण; रूप—सुन्दर; वत्स-उपस्कर-सम्पदाम्—सुन्दर बछड़ों सहित; प्राहिणोत्—दान में दिया; साधु-विप्रेभ्यः—ब्राह्मणों तथा साधु पुरुषों को; गृहेषु—उनके घर में (पहुँचे हुए); न्यर्बुदानि—दस करोड़; षट्—छः गुणा; भोजयित्वा—उन्हें खिलाकर; द्विजान् अग्रे—पहले ब्राह्मणों को; स्वादु अन्नम्—अत्यन्त स्वादिष्ट खाद्यपदार्थ; गुणवत्-तमम्—अत्यन्त स्वादिष्ट; लब्ध-कामैः—परम सन्तुष्ट ब्राह्मणों के द्वारा; अनुज्ञातः—उनकी अनुमति से; पारणाय—द्वादशी का व्रत पूरा करने के लिए; उपचक्रमे—अन्तिम उत्सव मनाने जा रहे; तस्य—उसका (अम्बरीष); तर्हि—तुरन्त; अतिथिः—अनिच्छित मेहमान; साक्षात्—प्रत्यक्ष; दुर्वासाः—योगी दुर्वासा; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; अभूत्—अतिथि रूप में वहाँ प्रकट हुए ।

तत्पश्चात् महाराज अम्बरीष ने अपने घर में आये सारे अतिथियों को, विशेषकर ब्राह्मणों को संतुष्ट किया। उन्होंने दान में साठ करोड़ गौवें दीं जिनके सींग सोने के पत्तर से और खुर चाँदी के पत्तर से मढ़े थे। सारी गौवें वस्त्रों से खूब सजाई गई थीं और उनके थन दूध से भरे थे। वे सुशील, तरुण तथा सुन्दर थीं और अपने-अपने बछड़ों के साथ थीं। इन गौवों का दान देने के बाद राजा ने सर्वप्रथम सारे ब्राह्मणों को पेटभर भोजन कराया और जब वे पूरी तरह संतुष्ट हो गये तो वे उनकी आज्ञा से एकादशी व्रत तोड़कर उस का पारण करने वाले थे। किन्तु ठीक उसी समय महान् एवं शक्तिशाली दुर्वासा मुनि अनामंत्रित अतिथि के रूप में वहाँ पर प्रकट हुए।

तमानर्चातिथिं भूपः प्रत्युत्थानासनार्हणैः ।

ययाचेऽभ्यवहाराय पादमूलमुपागतः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (दुर्वासा को); आनर्च—पूजा की; अतिथिम्—यद्यपि वे अनाहूत आये थे; भूपः—राजा (अम्बरीष) ने; प्रत्युत्थान—खड़े हो करके; आसन—आसन देकर; अर्हणैः—पूजा की सामग्री से; ययाचे—प्रार्थना की; अभ्यवहाराय—भोजन करने के लिए; पाद-मूलम्—पाँवों पर; उपागतः—गिर कर ।

दुर्वासा मुनि का स्वागत करने के लिए राजा अम्बरीष ने खड़े होकर उन्हें आसन तथा पूजा की सामग्री प्रदान की। तब उनके पाँवों के पास बैठकर राजा ने मुनि से भोजन करने के लिए प्रार्थना की।

प्रतिनन्द्य स तां याच्ञां कर्तुमावश्यकं गतः ।
निममज्ज बृहद्भ्यायन्कालिन्दीसलिले शुभे ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

प्रतिनन्द्य—प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करके; सः—दुर्वासा मुनि ने; ताम्—उस; याच्ञाम्—प्रार्थना को; कर्तुम्—करने के लिए; आवश्यकम्—आवश्यक धार्मिक अनुष्ठान; गतः—चला गया; निममज्ज—जल में डुबकी लगाई; बृहत्—परब्रह्म; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; कालिन्दी—यमुना के; सलिले—जल में; शुभे—अत्यन्त शुभ ।

दुर्वासा मुनि ने प्रसन्नतापूर्वक महाराज अम्बरीष की प्रार्थना स्वीकार कर ली, किन्तु आवश्यक अनुष्ठान करने के लिए वे यमुना नदी में गये। वहाँ उन्होंने पवित्र यमुना नदी के जल में डुबकी लगाई और निराकार ब्रह्म का ध्यान किया।

मुहूर्तार्धावशिष्टायां द्वादश्यां पारणं प्रति ।
चिन्तयामास धर्मज्ञो द्विजैस्तद्धर्मसङ्कटे ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

मुहूर्त—अर्ध-अवशिष्टायाम्—आधे मुहूर्त के शेष रहने पर; द्वादश्याम्—द्वादशी के दिन; पारणम्—व्रत तोड़ना; प्रति—मनाने के लिए; चिन्तयाम् आस—सोचने लगा; धर्म-ज्ञः—धार्मिक नियमों का ज्ञाता; द्विजैः—ब्राह्मणों के द्वारा; तत्-धर्म—उस धर्म से सम्बन्धित; सङ्कटे—विकट परिस्थिति में।

तब तक व्रत तोड़ने के लिए द्वादशी का केवल आधा मुहूर्त शेष था। फलस्वरूप व्रत को तुरन्त तोड़ा जाना अनिवार्य था। ऐसी विकट परिस्थिति में राजा ने विद्वान ब्राह्मणों से परामर्श किया।

ब्राह्मणातिक्रमे दोषो द्वादश्यां यदपारणे ।
यत्कृत्वा साधु मे भूयादधर्मो वा न मां स्पृशेत् ॥ ३९ ॥
अम्भसा केवलेनाथ करिष्ये व्रतपारणम् ।
आहुरब्भक्षणं विप्रा ह्यशितं नाशितं च तत् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मण-अतिक्रमे—ब्राह्मणों के प्रति सत्कार के नियमों का उल्लंघन करने में; दोषः—दोष है; द्वादश्याम्—द्वादशी के दिन; यत्—क्योंकि; अपारणे—समय से व्रत न तोड़ने पर; यत् कृत्वा—जिसे करने पर; साधु—जो शुभ है; मे—मेरे लिए; भूयात्—ऐसा हो; अधर्मः—जो धर्म से रहित है; वा—अथवा; न—नहीं; माम्—मुझको; स्पृशेत्—स्पर्श करे; अम्भसा—जल से; केवलेन—केवल; अथ—अतएव; करिष्ये—मैं करूँगा; व्रत-पारणम्—व्रत की पूर्ति; आहुः—कहा; अप्-भक्षणम्—पीने का पानी; विप्राः—हे ब्राह्मणो; हि—निस्सन्देह; अशितम्—खाना; न अशितम् च—तथा न खाना; तत्—ऐसा कार्य।

राजा ने कहा : “ब्राह्मणों के प्रति सत्कार के नियमों का उल्लंघन करना निश्चय ही, महान् अपराध है। दूसरी ओर यदि कोई द्वादशी की तिथि में अपने व्रत को नहीं तोड़ता तो व्रत के पालन में दोष आता है। अतएव हे ब्राह्मणो, यदि आप लोग यह सोचें कि यह शुभ है तथा अधर्म नहीं है तो मैं जल पीकर व्रत तोड़ दूँ।” इस प्रकार ब्राह्मणों से परामर्श करने के बाद राजा इस निर्णय पर पहुँचा

कि ब्राह्मणों के मतानुसार जल का पीना भोजन करना स्वीकार किया जा सकता है और नहीं भी।

तात्पर्य : जब महाराज अम्बरीष ने दुविधा में पड़कर ब्राह्मणों से इस विषय में परामर्श किया कि वे अपना व्रत तोड़ें या दुर्वासा मुनि की प्रतीक्षा करें तो ब्राह्मणगण इसके विषय में कोई निश्चित उत्तर नहीं दे पाये। लेकिन वैष्णव सबसे अधिक बुद्धिमान व्यक्ति होता है। अतएव महाराज अम्बरीष ने ब्राह्मणों के समक्ष स्वयं निर्णय लिया कि वे थोड़ा सा जल पी लें क्योंकि इससे व्रत तोड़ने की पुष्टि भी हो जायेगी और ब्राह्मण-सत्कार के नियमों का उल्लंघन भी नहीं होगा। वेदों में कहा गया है—*अपोऽश्नाति तन् नैवाशितम् नैवानशितम्*—इस वैदिक आदेश का अर्थ है कि जल पीने को भोजन करना माना जा सकता है और नहीं भी माना जा सकता। कभी-कभी अपने व्यावहारिक अनुभव में हम यह देखते हैं कि कोई राजनैतिक नेता सत्याग्रह करते समय खाता नहीं, लेकिन जल पी लेता है। जल पीने को खाना न मानते हुए महाराज अम्बरीष ने ऐसा करने का निर्णय लिया।

इत्यपः प्राश्य राजर्षिश्चिन्तयन्मनसाच्युतम् ।

प्रत्यचष्ट कुरुश्रेष्ठ द्विजागमनमेव सः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; अपः—जल; प्राश्य—पीकर; राजर्षिः—राजर्षि अम्बरीष; चिन्तयन्—ध्यान करते हुए; मनसा—मन से; अच्युतम्—भगवान् को; प्रत्यचष्ट—प्रतीक्षा करने लगा; कुरु-श्रेष्ठ—हे कुरु राजाओं में श्रेष्ठ; द्विज-आगमनम्—महान् योगी ब्राह्मण दुर्वासा मुनि के आने की; एव—निस्सन्देह; सः—वह राजा।

हे कुरुश्रेष्ठ, थोड़ा सा जल पीकर राजा अम्बरीष ने अपने मन में भगवान् का ध्यान किया और

फिर वे महान् योगी दुर्वासा मुनि के वापस आने की प्रतीक्षा करने लगे।

दुर्वासा यमुनाकूलात्कृतावश्यक आगतः ।

राज्ञाभिनन्दितस्तस्य बुबुधे चेष्टितं धिया ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

दुर्वासाः—महर्षि; यमुना-कूलात्—यमुना नदी के तट से; कृत—करके; आवश्यकः—आवश्यक अनुष्ठान; आगतः—वापस आया; राज्ञा—राजा के द्वारा; अभिनन्दितः—भलीभाँति सत्कार किया जाकर; तस्य—उसका; बुबुधे—समझ सका; चेष्टितम्—चेष्टा, कृत्य; धिया—बुद्धि से।

दोपहर के समय सम्पन्न होने वाले अनुष्ठानों को संपन्न कर लेने के बाद दुर्वासा मुनि यमुना के तट से वापस आये। राजा ने अच्छी प्रकार से उनका स्वागत किया, किन्तु दुर्वासा मुनि ने अपने

योगबल से जान लिया कि राजा ने उनकी अनुमति के बिना जल पी लिया है।

मन्युना प्रचलद्गात्रो भुकुटीकुटिलाननः ।

बुभुक्षितश्च सुतरां कृताञ्जलिमभाषत ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

मन्युना—क्रोध से उद्विग्न मन वाला; प्रचलत्-गात्रः—काँपते शरीर से; भु-कुटी—भौहों से; कुटिल—वक्र; आननः—मुख; बुभुक्षितः च—तथा भूखा; सुतराम्—अत्यधिक; कृत-अञ्जलिम्—हाथ जोड़कर खड़े अम्बरीष महाराज से; अभाषत—कहा।

भूखे, काँपते शरीर, टेढ़े मुँह तथा क्रोध से टेढ़ी भौहों किये दुर्वासा मुनि ने अपने समक्ष हाथ जोड़े

खड़े राजा अम्बरीष से क्रोधपूर्वक इस प्रकार कहा।

अहो अस्य नृशंसस्य श्रियोन्मत्तस्य पश्यत ।

धर्मव्यतिक्रमं विष्णोरभक्तस्येशमानिनः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; अस्य—इस पुरुष का; नृ-शंसस्य—इतने निर्दय का; श्रिया उन्मत्तस्य—अपने ऐश्वर्य के कारण गर्वित; पश्यत—देखो तो; धर्म-व्यतिक्रमम्—धार्मिक सिद्धान्तों का उल्लंघन; विष्णोः अभक्तस्य—जो विष्णु का भक्त नहीं है उसका; ईश-मानिनः—अपने आपको ईश्वर मानने वाला।

ओह! जरा इस निर्दय व्यक्ति का आचरण तो देखो, यह भगवान् विष्णु का भक्त नहीं है। यह अपने ऐश्वर्य एवं पद के गर्व के कारण अपने आपको ईश्वर समझ रहा है। देखो न, इसने धर्म के नियमों का उल्लंघन किया है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस श्लोक में दुर्वासा मुनि द्वारा कहे गये वचनों का पूरा अर्थ ही बदल दिया है। दुर्वासा मुनि ने नृशंसस्य शब्द का व्यवहार राजा को क्रूर बताने के लिए किया है लेकिन विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इसका अर्थ यह लगाते हैं कि राजा के चरित्र की महिमा का गान सारे स्थानीय लोगों ने किया। उनके अनुसार नृ का अर्थ है “सारे स्थानीय लोग” तथा शंसस्य का अर्थ है “अम्बरीष का, जिसके चरित्र का गायन किया गया।” इसी प्रकार जो अत्यन्त धनी होता है वह अपने धन के कारण पागल हो जाता है अतएव वह श्रिया उन्मत्तस्य कहलाता है, किन्तु श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार यद्यपि महाराज अम्बरीष अत्यन्त ऐश्वर्यवान राजा थे, किन्तु वे दान के पीछे पागल नहीं थे क्योंकि वे भौतिक ऐश्वर्य के पागलपन को पहले ही पार कर चुके थे। इसी प्रकार ईशमानिनः का अर्थ यह लगाया है कि वह भगवान् का इतना आदर करता था कि दुर्वासा मुनि के ऐसा सोचने के बावजूद भी उसने

एकादशी पारण के नियम का उल्लंघन नहीं किया क्योंकि उसने केवल जल ग्रहण किया था। इस प्रकार श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अम्बरीष महाराज के सारे

यो मामतिथिमायातमातिथ्येन निमन्त्र्य च ।

अदत्त्वा भुक्तवांस्तस्य सद्यस्ते दर्शये फलम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

यः—जो व्यक्ति; माम्—मुझे; अतिथिम्—अतिथि को; आयातम्—आया हुआ; आतिथ्येन—अतिथि के रूप में सत्कार द्वारा; निमन्त्र्य—निमंत्रण देकर; च—भी; अदत्त्वा—(भोजन) दिये बिना; भुक्तवान्—स्वयं खा लिया; तस्य—उसका; सद्यः—तुरन्त; ते—तुम्हारा; दर्शये—दिखलाऊँगा; फलम्—परिणाम, फल।

महाराज अम्बरीष, तुमने मुझे अतिथि के रूप में भोजन के लिए बुलाया है लेकिन तुमने मुझे न खिलाकर स्वयं पहले खा लिया है। तुम्हारे इस दुर्व्यवहार के कारण मैं तुमको इसका मजा चखाऊँगा।

तात्पर्य : भक्त तथाकथित योगी द्वारा पराजित नहीं किया जा सकता। यह दुर्वासा मुनि द्वारा महाराज अम्बरीष को प्रताड़ित करने के प्रयास के असफल होने से सिद्ध हो जायेगा। *हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणाः* (*भागवत* ५.१८.१२)। जो भगवद्भक्त नहीं है वह कितना ही बड़ा योगी, दार्शनिक या कर्मी क्यों न हो, अच्छा गुणवान अथवा योग्य नहीं माना जाता। केवल भक्त ही सभी परिस्थितियों में विजयी होता है जैसा कि दुर्वासा तथा महाराज अम्बरीष की स्पर्धा की प्रस्तुत घटना से देखा जायेगा।

एवं ब्रुवाण उक्त्व्य जटां रोषप्रदीपितः ।

तया स निर्ममे तस्मै कृत्यां कालानलोपमाम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; ब्रुवाणः—बोलकर (दुर्वासा मुनि); उक्त्व्य—उखाड़कर; जटाम्—बालों के समूह को; रोष-प्रदीपितः—क्रोध के मारे लाल होकर; तया—सिर से उखाड़ी अपनी जटा से; सः—दुर्वासा मुनि ने; निर्ममे—उत्पन्न कर दिया; तस्मै—महाराज अम्बरीष को दण्ड देने के लिए; कृत्याम्—कृत्या; काल-अनल-उपमाम्—प्रलयाग्नि के समान प्रकट होकर।

जब दुर्वासा मुनि ने ऐसा कहा तो क्रोध से उनका मुख लाल पड़ गया। उन्होंने अपने सिर की जटा से एक बाल उखाड़कर महाराज अम्बरीष को दण्ड देने के लिए एक कृत्या उत्पन्न कर दी जो प्रलयाग्नि के समान प्रज्वलित हो रही थी।

तामापतन्तीं ज्वलतीमसिहस्तां पदा भुवम् ।
वेपयन्तीं समुद्रीक्ष्य न चचाल पदानृपः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उसको; आपतन्तीम्—उस पर आक्रमण करने के लिए जो आगे बढ़ती हुई; ज्वलतीम्—अग्नि के समान प्रज्वलित; असि-हस्ताम्—हाथ में त्रिशूल लिए हुए; पदा—अपने पगों से; भुवम्—पृथ्वी को; वेपयन्तीम्—कंपाती हुई; समुद्रीक्ष्य—उसे ठीक से देखकर; न—नहीं; चचाल—हिला या हटा; पदात्—अपने स्थान से; नृपः—राजा ।

वह देदीप्यमान कृत्या अपने हाथ में त्रिशूल लेकर तथा अपने पदचाप से धरती को कंपाती हुई महाराज अम्बरीष के सामने आई। किन्तु उसे देखकर राजा तनिक भी विचलित नहीं हुआ और अपने स्थान से रंचभर भी नहीं हटा।

तात्पर्य : नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन विभ्यति (भागवत ६.१७.२८)—नारायण का भक्त कभी किसी भौतिक भय से भयभीत नहीं होता। भक्तों के ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हैं—यथा प्रह्लाद महाराज जिन्हें उनके पिता तरह-तरह के कष्ट देते थे, किन्तु वे तनिक भी भयभीत नहीं हुए यद्यपि वे अभी केवल पाँच वर्ष के बालक थे। अतएव अम्बरीष महाराज तथा प्रह्लाद महाराज का अनुकरण करते हुए भक्त को इस संसार की ऐसी सारी विषम स्थितियों को सहने का अभ्यास करना चाहिए। भक्तों को प्रायः अभक्त सताते हैं फिर भी भगवान् की कृपा पर आश्रित रहकर शुद्ध भक्त कभी भी ऐसे शत्रुतापूर्ण कार्यों से विचलित नहीं होते।

प्राग्दिष्टं भृत्यरक्षायां पुरुषेण महात्मना ।
ददाह कृत्यां तां चक्रं क्रुद्धाहिमिव पावकः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

प्राक् दिष्टम्—पूर्व आयोजित; भृत्य-रक्षायाम्—अपने दासों की रक्षा करने के लिए; पुरुषेण—परम पुरुष द्वारा; महा-आत्मना—परमात्मा द्वारा; ददाह—जलाकर राख कर दिया; कृत्याम्—सृजित कृत्या को; ताम्—उस; चक्रम्—चक्र; क्रुद्ध—क्रुद्ध; अहिम्—सर्प को; इव—सदृश; पावकः—अग्नि।

जिस प्रकार दावाग्नि एक क्रुद्ध सर्प को तुरन्त जला देती है उसी प्रकार पहले से आदिष्ट भगवान् के सुदर्शन चक्र ने भगवद्भक्त की रक्षा करने के लिए उस सृजित कृत्या को जलाकर क्षार कर दिया।

तात्पर्य : शुद्ध भक्त होने के कारण महाराज अम्बरीष ऐसे संकट में पड़कर भी न तो अपने स्थान से रंचभर हटे, न ही भगवान् से अपनी रक्षा करने के लिए कोई प्रार्थना की। वे विचार में स्थिर थे अतएव यह स्पष्ट था कि वे अपने मन में भगवान् का चिन्तन मात्र कर रहे थे। भक्त कभी अपनी मृत्यु से डरता नहीं

क्योंकि वह सदैव भगवान् का ध्यान अपने कर्तव्य के रूप में करता है, किसी भौतिक लाभ के लिए नहीं। लेकिन भगवान् जानते हैं कि भक्त की रक्षा कैसे करनी चाहिए। जैसा कि प्राग्-दिष्टम् शब्द से सूचित होता है, भगवान् सब जानते थे। अतएव इसके पूर्व कि कोई घटना घटे, उन्होंने महाराज अम्बरीष की रक्षा करने के लिए अपने चक्र को तैयार रखा था। भक्त को यह सुरक्षा भक्ति शुरू करने के दिन से ही प्रदान की जाती है। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति (भगवद्गीता ९.३१)। यदि कोई व्यक्ति भक्ति शुरू करता है तो तुरन्त ही भगवान् उसकी रक्षा करने लगते हैं। इसकी पुष्टि भगवद्गीता (१८.६६) के द्वारा होती है— अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि। सुरक्षा का कार्य तुरन्त प्रारम्भ हो जाता है। भगवान् इतने दयालु हैं कि वे अपने भक्त को सही मार्गदर्शन तथा सारी सुरक्षा प्रदान करते हैं। इस तरह भक्त शान्तिपूर्वक बिना किसी बाहरी उपद्रव के कृष्णभावनामृत में ठोस प्रगति करता है। सर्प कितना ही क्रुद्ध और काटने को तैयार क्यों न हो, किन्तु जब उसे जंगल की प्रज्वलित अग्नि का सामना करना पड़ता है तो क्रुद्ध से क्रुद्ध सर्प भी असहाय बन जाता है। यद्यपि भक्त का शत्रु अत्यन्त प्रबल भी हो, वह भक्ति की अग्नि के समक्ष क्रुद्ध सर्प जैसा बन जाता है।

तदभिद्रवदुद्धीक्ष्य स्वप्रयासं च निष्फलम् ।

दुर्वासा दुद्रुवे भीतो दिक्षु प्राणपरीप्सया ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस चक्र को; अभिद्रवत्—अपनी ओर आते; उद्धीक्ष्य—देखकर; स्व-प्रयासम्—अपने निजी प्रयास को; च—तथा; निष्फलम्—व्यर्थ हुआ; दुर्वासा:—दुर्वासा मुनि; दुद्रुवे—भगने लगा; भीतः—भयभीत हो गए; दिक्षु—हर दिशा में; प्राण-परीप्सया—अपने जीवन की रक्षा करने की इच्छा से।

जब दुर्वासा मुनि ने देखा कि उनका निजी प्रयास विफल हो गया है और सुदर्शन चक्र उनकी ओर बढ़ रहा है तो वे अत्यधिक भयभीत हो उठे और अपनी जान बचाने के लिए सारी दिशाओं में दौने लगे।

तमन्वधावद्भगवद्रथाङ्गं

दावाग्निरुद्धूतशिखो यथाहिम् ।

तथानुषक्तं मुनिरीक्षमाणो

गुहां विविक्षुः प्रससार मेरोः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

तम्—दुर्वासा का; अन्वधावत्—पीछा करने लगा; भगवत्-रथ-अङ्गम्—भगवान् के रथ के पहिए से निकला चक्र; दाव-अग्निः—जंगल की अग्नि के समान; उद्भूत—ऊपर उठी; शिखः—लपटें; यथा अहिम्—जिस तरह साँप का पीछा करती हैं; तथा—उसी प्रकार; अनुषक्तम्—मानो दुर्वासा मुनि की पीठ को छूता हुआ; मुनिः—मुनि; ईक्षमाणः—इस तरह देखता; गुहाम्—गुफा में; विविक्षुः—प्रवेश करना चाहा; प्रससार—तेजी से आगे बढ़ने लगा; मेरोः—मेरु पर्वत की।

जिस प्रकार द्वाग्नि की लपटें साँप का पीछा करती हैं उसी तरह भगवान् का चक्र दुर्वासा मुनि का पीछा करने लगा। दुर्वासा मुनि ने देखा कि यह चक्र उनकी पीठ को छूने वाला है अतएव वे तेजी से दौकर सुमेरु पर्वत की गुफा में घुस जाना चाह रहे थे।

दिशो नभः क्षमां विवरान्समुद्रान्
लोकान्सपालांस्त्रिदिवं गतः सः ।
यतो यतो धावति तत्र तत्र
सुदर्शनं दुष्प्रसहं ददर्श ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

दिशः—सारी दिशाएँ; नभः—आकाश में; क्षमाम्—पृथ्वी पर; विवरान्—छेदों में; समुद्रान्—समुद्रों के भीतर; लोकान्—सारे स्थानों में; स-पालान्—तथा उनके शासकों समेत; त्रिदिवम्—स्वर्गलोकों में; गतः—गया हुआ; सः—वह दुर्वासा मुनि; यतः यतः—जहाँ-जहाँ; धावति—गया; तत्र तत्र—वहीं-वहीं; सुदर्शनम्—भगवान् का चक्र; दुष्प्रसहम्—अत्यन्त भयावह; ददर्श—दुर्वासा मुनि ने देखा।

अपनी रक्षा करने के लिए दुर्वासा मुनि सर्वत्र भागते रहे—वे आकाश, पृथ्वीतल, गुफाओं, समुद्र, तीनों लोकों के शासकों के विभिन्न लोकों तथा स्वर्गलोक में भी गये, किन्तु जहाँ-जहाँ गये वहीं उन्होंने सुदर्शन चक्र की असह्य अग्नि को उनका पीछा करते देखा।

अलब्धनाथः स सदा कुतश्चित्
सन्त्रस्तचित्तोऽरणमेषमाणः ।
देवं विरिञ्चं समगात्विधात-
स्त्राह्यात्मयोनेऽजिततेजसो माम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

अलब्ध-नाथः—रक्षक की शरण पाये बिना; सः—दुर्वासा मुनि; सदा—सदैव; कुतश्चित्—कहीं; सन्त्रस्त-चित्तः—भयभीत मन से; अरणम्—शरणदाता को; एषमाणः—ढूँढते हुए; देवम्—प्रमुख देवता; विरिञ्चम्—ब्रह्माजी के पास; समगात्—पहुँचा; विधातः—हे प्रभु; त्राहि—मेरी रक्षा कीजिये; आत्म-योने—हे ब्रह्माजी; अजित-तेजसः—अजित अर्थात् भगवान् द्वारा छोड़ी गयी अग्नि से; माम्—मुझको।

दुर्वासा मुनि भयभीत मन से इधर उधर शरण खोजते रहे, किन्तु जब उन्हें कोई शरण न मिल सकी तो अन्ततः वे ब्रह्माजी के पास पहुँचे और कहा—हे प्रभु, हे ब्रह्माजी, कृपा करके भगवान् द्वारा

भेजे गये इस ज्वलित सुदर्शन चक्र से मेरी रक्षा कीजिये।

श्रीब्रह्मोवाच

स्थानं मदीयं सहविश्वमेतत्

क्रीडावसाने द्विपरार्थसंज्ञे ।

भूभङ्गमात्रेण हि सन्दिधक्षोः

कालात्मनो यस्य तिरोभविष्यति ॥ ५३ ॥

अहं भवो दक्षभृगुप्रधानाः

प्रजेशभूतेशसुरेशमुख्याः ।

सर्वे वयं यन्नियमं प्रपन्ना

मूर्ध्न्यार्पितं लोकहितं वहामः ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; स्थानम्—वह स्थान जहाँ मैं हूँ; मदीयम्—मेरा आवास, ब्रह्मलोक; सह—सहित; विश्वम्—सारा ब्रह्माण्ड; एतत्—यह; क्रीडा-अवसाने—भगवान् की लीला-अवधि के अन्त में; द्वि-परार्थ-संज्ञे—द्वि परार्थ के अन्त के नाम से जाना जाने वाला समय; भू-भङ्ग-मात्रेण—भौहों के टेढ़ा होने मात्र से; हि—निस्सन्देह; सन्दिधक्षोः—भगवान् का, जब वे सारे ब्रह्माण्ड को भस्म करना चाहते हैं; काल-आत्मनः—विनाश रूपी; यस्य—जिसका; तिरोभविष्यति—लुप्त हो जायेगा; अहम्—मैं; भवः—शिवजी; दक्ष—प्रजापति दक्ष; भृगु—भृगुमुनि; प्रधानाः—तथा अन्य; प्रजा-ईश—प्रजाओं के नियंत्रक; भूत-ईश—जीवों के नियन्ता; सुर-ईश—देवताओं के नियन्ता; मुख्याः—उनके नेतृत्व में; सर्वे—सभी; वयम्—हम भी; यत्-नियमम्—जिसके नियम; प्रपन्नाः—शरणागत; मूर्ध्न्यार्पितम्—हम अपने-अपने सिर झुकाकर; लोक-हितम्—जीवों के कल्याण हेतु; वहामः—जीवों के ऊपर शासन करने वाले आदेशों का पालन करते हैं।

ब्रह्माजी ने कहा : द्वि-परार्थ के अन्त में, जब भगवान् की लीलाएँ समाप्त हो जाती हैं तो भगवान् विष्णु अपनी एक भृकुटि के टेढ़ा होने से सारे ब्रह्माण्ड का, जिसमें हमारे निवास स्थान भी सम्मिलित हैं, विनाश कर देते हैं। मैं तथा शिवजी जैसे पुरुष तथा दक्ष, भृगु इत्यादि प्रधान ऋषिमुनि एवं जीवों के शासक, मानव समाज के शासक एवं देवताओं के शासक, हम सभी उन भगवान् विष्णु को अपने अपने सिर झुकाकर समस्त जीवों के कल्याण हेतु उनके आदेशों का पालन करने के लिए उनकी शरण में जाते हैं।

तात्पर्य : भगवद्गीता (१०.३४) में कहा गया है—मृत्युः सर्वहरश्चाहम्—जब भगवान् मृत्यु या काल के परम नियामक के रूप में आते हैं तो वे सर्वस्व छीन लेते हैं। दूसरे शब्दों में, सारा ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा तथा हमारा सर्वस्व भगवान् द्वारा किसी प्रयोजन के लिए प्रदत्त है। यह तो शरणागत जीव का कर्तव्य है कि वह परमेश्वर के आदेशों का पालन करे। कोई भी उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता। ऐसी परिस्थिति में ब्रह्माजी ने भगवान् के शक्तिशाली सुदर्शन चक्र से दुर्वासा मुनि की रक्षा करने के लिए उन्हें शरण देने से

इनकार कर दिया।

प्रत्याख्यातो विरिञ्चेन विष्णुचक्रोपतापितः ।

दुर्वासाः शरणं यातः शर्वं कैलासवासिनम् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

प्रत्याख्यातः—मना किये जाने पर; विरिञ्चेन—ब्रह्माजी द्वारा; विष्णु-चक्र-उपतापितः—भगवान् विष्णु के चक्र की ज्वलित अग्नि से झुलस कर; दुर्वासाः—दुर्वासा मुनि; शरणम्—शरण में; यातः—गया; शर्वम्—शिवजी की; कैलास-वासिनम्—कैलासवासी।

जब सुदर्शन चक्र की ज्वलित अग्नि से संतप्त दुर्वासा को ब्रह्माजी ने इस प्रकार मना कर दिया

तो उन्होंने कैलास लोक में सदैव निवास करने वाले शिवजी की शरण लेने का प्रयास किया।

श्रीशङ्कर उवाच

वयं न तात प्रभवाम भूमि

यस्मिन्परेऽन्येऽप्यजजीवकोशाः ।

भवन्ति काले न भवन्ति हीदृशाः

सहस्रशो यत्र वयं भ्रमामः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शङ्करः उवाच—शंकरजी ने कहा; वयम्—हम; न—नहीं; तात—हे पुत्र; प्रभवामः—पर्याप्त सक्षम; भूमि—भगवान् को; यस्मिन्—जिसमें; परे—अध्यात्म में; अन्ये—अन्य लोग; अपि—भी; अज—ब्रह्माजी; जीव—सारे जीव; कोशाः—ब्रह्माण्ड; भवन्ति—हो सकते हैं; काले—कालक्रम से; न—नहीं; भवन्ति—हो सकते हैं; हि—निस्सन्देह; ईदृशाः—इसकी तरह; सहस्रशः—कई हजार तथा लाख; यत्र—जिसमें; वयम्—हम सभी; भ्रमामः—घूम रहे हैं।

शिवजी ने कहा : हे पुत्र, मैं, ब्रह्माजी तथा अन्य देवता जो अपनी-अपनी महानता की भ्रान्त धारणा के कारण इस ब्रह्माण्ड के भीतर चक्कर लगाते रहते हैं, भगवान् से स्पर्धा करने की क्षमता नहीं रखते क्योंकि भगवान् के निर्देशन मात्र से असंख्य ब्रह्माण्डों एवं उनके निवासियों का जन्म और संहार होता रहता है।

तात्पर्य : भौतिक जगत में असंख्य ब्रह्माण्ड हैं और ब्रह्मा, शिव तथा अन्य देवता भी असंख्य हैं। ये सभी भगवान् के परम निर्देशानुसार इस भौतिक जगत के भीतर चक्कर लगाते रहते हैं। अतएव कोई भी भगवान् की शक्ति की बराबरी नहीं कर सकता। शिवजी ने भी दुर्वासा की रक्षा करने से इनकार कर दिया क्योंकि शिवजी स्वयं भी भगवान् द्वारा भेजे सुदर्शन चक्र की किरणों के नीचे थे।

अहं सनत्कुमारश्च नारदो भगवानजः ।

कपिलोऽपान्तरतमो देवलो धर्म आसुरिः ॥ ५७ ॥

मरीचिप्रमुखाश्चान्ये सिद्धेशाः पारदर्शनाः ।

विदाम न वयं सर्वे यन्मायां माययावृताः ॥ ५८ ॥

तस्य विश्वेश्वरस्येदं शस्त्रं दुर्विषहं हि नः ।

तमेवं शरणं याहि हरिस्ते शं विधास्यति ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; सनत्-कुमारः च—तथा चारों कुमार (सनक, सनातन, सनत्कुमार तथा सनन्द); नारदः—नारद मुनि; भगवान् अजः—ब्रह्माण्ड के श्रेष्ठतम प्राणी, ब्रह्माजी की; कपिलः—देवहूति के पुत्र; अपान्तरतमः—व्यासदेव; देवलः—देवलऋषि; धर्मः—यमराज; आसुरिः—महान् सन्त आसुरि; मरीचि—महान् सन्त मरीचि; प्रमुखाः—इत्यादि; च—भी; अन्ये—अन्य; सिद्ध-ईशाः—सभी अपने-अपने ज्ञान में पूर्ण; पार-दर्शनाः—जिन्होंने सारे ज्ञान का अन्त देखा है; विदामः—समझ सकते हैं; न—नहीं; वयम्—हम सभी; सर्वे—पूर्णतः; यत्-मायाम्—जिसकी माया को; मायया—माया द्वारा; आवृताः—ढका हुआ; तस्य—उसका; विश्व-ईश्वरस्य—ब्रह्माण्ड के स्वामी का; इदम्—यह; शस्त्रम्—हथियार (चक्र); दुर्विषहम्—असह्य; हि—निस्सन्देह; नः—हमारा; तम्—उसकी; एवम्—इसलिए; शरणम् याहि—शरण में जाओ; हरिः—भगवान्; ते—तुम्हारा; शम्—कल्याण; विधास्यति—अवश्यमेव करेंगे।

मैं (शिवजी), सनत्कुमार, नारद, परमादरणीय ब्रह्माजी, कपिल (देवहूति पुत्र), अपान्तरतम (व्यासदेवजी), देवल, यमराज, आसुरि, मरीचि इत्यादि अनेक सन्तपुरुष एवं सिद्धिप्राप्त अन्य अनेक लोग भूत, वर्तमान तथा भविष्य को जानने वाले हैं। फिर भी भगवान् की माया से प्रच्छन्न होने के कारण हम यह नहीं समझ पाते कि यह माया कितनी विस्तीर्ण है। तुम उन्हीं भगवान् के पास राहत प्राप्त करने के लिए जाओ क्योंकि यह सुदर्शन चक्र हम लोगों के लिए भी दुःसह है। तुम भगवान् विष्णु के पास जाओ। वे अवश्य ही दयार्द्र होकर तुम्हें सौभाग्य प्रदान करेंगे।

ततो निराशो दुर्वासाः पदं भगवतो ययौ ।

वैकुण्ठाख्यं यदध्यास्ते श्रीनिवासः श्रिया सह ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; निराशः—निराश हुआ; दुर्वासाः—दुर्वासा मुनि; पदम्—स्थान; भगवतः—भगवान् विष्णु के; ययौ—गया; वैकुण्ठ-आख्यम्—वैकुण्ठ नामक; यत्—जहाँ पर; अध्यास्ते—नित्य वास करते हैं; श्रीनिवासः—भगवान् विष्णु; श्रिया—लक्ष्मी; सह—सहित।

तत्पश्चात् शिवजी के द्वारा भी शरण न दिये जाने से निराश होकर दुर्वासा मुनि वैकुण्ठधाम गये जहाँ भगवान् नारायण अपनी प्रियतमा लक्ष्मीदेवी के साथ निवास करते हैं।

सन्दह्यमानोऽजितशस्त्रवह्निना

तत्पादमूले पतितः सवेपथुः ।

आहाच्युतानन्त सदीप्सित प्रभो

कृतागसं मावहि विश्वभावन ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

सन्दह्यमानः—दग्ध होकर; अजित-शस्त्र-वह्निना—भगवान् के हथियार की ज्वलित अग्नि से; तत्-पाद-मूले—उनके चरणकमलों पर; पतितः—गिरते हुए; स-वेपथुः—काँपते शरीर से; आह—कहा; अच्युत—हे अच्युत भगवान्; अनन्त—हे असीम पराक्रम वाले; सत्-ईप्सित—सन्तों द्वारा वांछित भगवान्; प्रभो—हे परमेश्वर; कृत-आगसम्—महानतम अपराधी; मा—मुझे; अवहि—शरण दो; विश्व-भावन—समस्त विश्व के हितैषी।

सुदर्शन चक्र की गर्मी से झुलसे हुए महान् योगी दुर्वासा मुनि नारायण के चरणकमलों पर गिर पड़े। काँपते शरीर से वे इस तरह बोले, “हे अच्युत, हे अनन्त, हे समस्त ब्रह्माण्ड के रक्षक, आप सभी भक्तों के अभीष्ट हैं। हे प्रभु, मैं महान् अपराधी हूँ। कृपया मुझे संरक्षण प्रदान करें।”

अजानता ते परमानुभावं

कृतं मयाघं भवतः प्रियाणाम् ।

विधेहि तस्यापचितिं विधात-

मुच्येत यन्नाम्युदिते नारकोऽपि ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

अजानता—अनजाने; ते—तुम्हारी; परम-अनुभावम्—अचिन्त्य शक्ति; कृतम्—किया गया है; मया—मेरे द्वारा; अघम्—महान् अपराध; भवतः—आपके; प्रियाणाम्—भक्तों के चरणों पर; विधेहि—अब कृपा करके जो आवश्यक हो करें; तस्य—ऐसे अपराध का; अपचितिम्—प्रतिक्रिया; विधातः—हे परम नियन्ता; मुच्येत—उद्धार हो सकता है; यत्—जिसका; नामिन्—जब नाम; उदिते—जगाया जाता है; नारकः अपि—नरक जाने योग्य व्यक्ति भी।

हे प्रभु, हे परम नियन्ता, मैंने आपकी असीम शक्ति समझे बिना आपके परम प्रिय भक्त के प्रति अपराध किया है। कृपया मुझे इस अपराध के फल से बचा लें। आप हर काम कर सकते हैं क्योंकि यदि कोई व्यक्ति नरक जाने के लायक हो, उसके भी हृदय में अपने पवित्र नाम को जगाकर आप उसका उद्धार कर सकते हैं।

श्रीभगवानुवाच

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।

साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; अहम्—मैं; भक्त-पराधीनः—मैं अपने भक्तों के वशीभूत हूँ; हि—निस्सन्देह; अस्वतन्त्रः—स्वतंत्र नहीं हूँ; इव—के समान; द्विज—हे ब्राह्मण; साधुभिः—शुद्ध भक्तों से, जो सारी भौतिक इच्छाओं से मुक्त हैं; ग्रस्त-हृदयः—मेरा हृदय नियंत्रण में है; भक्तैः—क्योंकि वे भक्त हैं; भक्त-जन-प्रियः—मैं न केवल अपने भक्त पर आश्रित हूँ लेकिन भक्त के भी भक्त के आश्रित हूँ (मुझे अपने भक्त का भक्त अत्यन्त प्रिय होता है)।

भगवान् ने उस ब्राह्मण से कहा : मैं पूर्णतः अपने भक्तों के वश में हूँ। निस्सन्देह, मैं तनिक भी

स्वतंत्र नहीं हूँ। चूँकि मेरे भक्त भौतिक इच्छाओं से पूर्णतः रहित होते हैं अतएव मैं उनके हृदयों में ही निवास करता हूँ। मुझे मेरे भक्त ही नहीं, मेरे भक्तों के भक्त भी अत्यन्त प्रिय हैं।

तात्पर्य : इस ब्रह्माण्ड के सारे महापुरुष, जिसमें ब्रह्माजी तथा शिवजी भी सम्मिलित हैं, पूर्णतः भगवान् के वशीभूत हैं, किन्तु भगवान् पूरी तरह अपने भक्त के वश में रहते हैं। ऐसा क्यों है? क्योंकि भक्त *अन्याभिलाषिताशून्य* होता है अर्थात् उसके हृदय में कोई अन्य इच्छा नहीं रहती। उसकी एकमात्र इच्छा सदैव भगवान् का चिन्तन करते रहने और अच्छी तरह से उनकी सेवा करते रहने की होती है। इस दिव्य गुण के कारण परमेश्वर भक्तों के अत्यन्त अनुकूल रहते हैं—न केवल भक्तों के अपितु भक्तों के भक्तों के प्रति भी अनुकूल रहते हैं। श्रील नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं—*छाडिया वैष्णव-सेवा निस्तार पायेछे केबा—* भक्तों के भक्त बने बिना कोई भवपाश से छूट नहीं सकता। इसलिए श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपने आपको *गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासानुदासः* कहा। इस तरह उन्होंने हमें उपदेश दिया है कि हम सीधे कृष्ण के दास न बनें अपितु कृष्ण के दास के दास बनें। ब्रह्मा, नारद, व्यासदेव तथा शुकदेव गोस्वामी जैसे भक्तगण कृष्ण के सीधे दास हैं और जो व्यक्ति नारद, व्यासदेव तथा शुकदेव का दास बनता है जिस तरह कि षड्गोस्वामी थे, वह और भी बड़ा भक्त है। इसलिए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादः—* जो व्यक्ति निष्ठापूर्वक गुरु की सेवा करता है उस भक्त के प्रति कृष्ण निश्चय ही, अनुकूल रहते हैं। भगवान् के आदेशों का सीधा पालन करने की अपेक्षा भक्त के आदेशों का पालन करना अधिक मूल्यवान होता है।

नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना ।

श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन्येषां गतिरहं परा ॥ ६४ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; आत्मानम्—दिव्य आनन्द; आशासे—चाहता हूँ; मत्-भक्तैः—मेरे भक्तों के साथ; साधुभिः—साधुपुरुषों के साथ; विना—उनके बिना; श्रियम्—मेरे छोटे ऐश्वर्य; च—भी; आत्यन्तिकीम्—परम; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; येषाम्—जिसका; गतिः—लक्ष्य; अहम्—मैं; परा—परम, चरम।

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, मैं उन साधुपुरुषों के बिना अपना दिव्य आनन्द तथा अपने परम ऐश्वर्यों का भोग नहीं करना चाहता जिनके लिए मैं ही एकमात्र गन्तव्य हूँ।

तात्पर्य : भगवान् आत्मनिर्भर हैं लेकिन अपने दिव्य आनन्द का भोग करने के लिए उन्हें अपने भक्तों

के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरणार्थ, यद्यपि वृन्दावन में भगवान् कृष्ण स्वयं में पूर्ण हैं, किन्तु वे अपने दिव्य आनन्द को वर्धित करने के लिए अपने भक्त ग्वालों तथा गोपियों का सहयोग चाहते हैं। ऐसे शुद्ध भक्त जो भगवान् की ह्लादिनी शक्ति को बढ़ाने वाले हैं, भगवान् को अत्यन्त प्रिय हैं। भगवान् न केवल अपने भक्तों की संगति का आनन्द लेते हैं अपितु अनन्त होने के कारण वे अपने भक्तों की संख्या को भी असीमित बनाना चाहते हैं। इस तरह वे अभक्तों तथा विद्रोही जीवों को भगवद्धाम वापस जाने के लिए प्रेरित करने हेतु इस भौतिक जगत में अवतरित होते हैं और उन्हें प्रोत्साहित करते हैं कि उनकी शरण में जाया जाय क्योंकि अनन्त होने के कारण वे अपने भक्तों की संख्या को असीम बनाना चाहते हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन भगवान् के शुद्धभक्तों की संख्या को अधिकाधिक बढ़ाने का प्रयास है। यह निश्चित है कि जो भक्त भगवान् को संतुष्ट करने के इस प्रयास को पूरा करने में सहायक होता है वह अप्रत्यक्ष रूप से भगवान् का नियंत्रक बन जाता है। यद्यपि भगवान् षड्ऐश्वर्य से पूर्ण हैं, किन्तु अपने भक्तों के बिना उन्हें दिव्य आनन्द प्राप्त नहीं होता। इस सन्दर्भ में यह उदाहरण दिया जा सकता है कि यदि किसी धनी पुरुष के परिवार में पुत्र नहीं होता तो वह अपने को सुखी अनुभव नहीं करता। इसीलिए अपने इस सुख की पूर्ति के लिए वह कभी-कभी दत्तक पुत्र बनाता है। शुद्ध भक्त को दिव्य आनन्द का विज्ञान ज्ञात है अतएव वह भगवान् के दिव्य सुख को बढ़ाने में सदा लगा रहता है।

ये दारागारपुत्राप्तप्राणान्वित्तमिमं परम् ।

हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

ये—जो भक्त; दार—पत्नी; अगार—घर; पुत्र—लड़के, बच्चे; आप्त—सम्बन्धी समाज; प्राणान्—यहाँ तक कि प्राण भी; वित्तम्—सम्पत्ति; इमम्—ये सब; परम्—स्वर्गलोक को जाना या ब्रह्म से एकाकार होना; हित्वा—त्यागकर (ये सब आकांक्षाएँ और सम्पत्ति); माम्—मुझको (मेरी); शरणम्—शरण में; याताः—ग्रहण करके; कथम्—कैसे; तान्—ऐसे पुरुषों को; त्यक्तुम्—त्यागने के लिए; उत्सहे—मैं किस तरह उत्साहित हो सकता हूँ (जो सम्भव नहीं है)।

चूँकि शुद्ध भक्तगण इस जीवन में या अगले जीवन में किसी भौतिक उन्नति की इच्छा से रहित होकर अपने घर, पत्नियों, बच्चों, सम्बन्धियों, धन और यहाँ तक कि अपने जीवन का भी परित्याग, मात्र मेरी सेवा करने के लिए, करते हैं तो मैं ऐसे भक्तों को कभी भी किस तरह छोड़ सकता हूँ?

तात्पर्य : भगवान् की पूजा ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मण हिताय च शब्दों से की जाती है। इस तरह वे

ब्राह्मणों के हितैषी हैं। दुर्वासा मुनि निस्सन्देह, महान् ब्राह्मण थे, किन्तु अभक्त होने के कारण वे भक्ति के लिए सर्वस्व अर्पित नहीं कर सकते थे। वस्तुतः महान् योगीजन स्वार्थी होते हैं। इसका प्रमाण यह है कि जब दुर्वासा मुनि ने महाराज अम्बरीष को मारने के लिए असुर उत्पन्न किया तो राजा भगवान् की प्रार्थना करते हुए और उन्हीं पर पूर्णतः आश्रित रहते हुए अपने स्थान पर खड़े रहे, किन्तु जब भगवान् की इच्छानुसार सुदर्शनचक्र ने दुर्वासा मुनि का पीछा करना शुरू किया तो वे इतने व्याकुल हो उठे कि सारे विश्व के कोने-कोने में शरण पाने के लिए भागते फिरे। अन्ततः प्राणों के भय से वे ब्रह्माजी, शिवजी तथा अन्त में भगवान् के पास गये। उन्हें अपने शरीर से इतना मोह था कि वे एक वैष्णव के शरीर का विनाश करना चाह रहे थे। इसलिए उनकी बुद्धि ठीक नहीं थी और ऐसा बुद्धिहीन व्यक्ति भला किस तरह भगवान् द्वारा उबारा जा सकता है? भगवान् उन भक्तों को निश्चित रूप से संरक्षण प्रदान करते हैं जो उनकी सेवा करने के लिए अपना सर्वस्व त्याग देते हैं।

इस श्लोक में दूसरी बात यह कही गई है कि *दारागार पुत्रापत* अर्थात् घर, पत्नी, सन्तान, मैत्री, समाज तथा प्रेम के प्रति अनुरक्ति होने से भगवान् की कृपा नहीं प्राप्त की जा सकती। जो व्यक्ति भौतिक सुख के लिए चूल्हा-चक्री से लिप्त रहना चाहता है वह शुद्धभक्त नहीं हो सकता। कभी-कभी शुद्ध भक्त में भी पत्नी, सन्तान तथा घर के लिए आकर्षण हो सकता है, किन्तु यदि उसी के साथ वह अपनी शक्तिभर भगवान् की सेवा करना चाहता है तो भगवान् ऐसे भक्त के लिए विशेष प्रबन्ध करते हैं—वे उसकी झूठी आसक्ति की वस्तुओं को छीन लेते हैं और इस तरह उसे उसकी पत्नी, घर, बच्चे, मित्र इत्यादि की आसक्ति से मुक्त कर देते हैं। भक्त को अपने धाम वापस बुलाने के लिए उन पर यह विशेष कृपा है।

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः ।

वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

मयि—मुझको; निर्बद्ध-हृदयाः—हृदय में दृढ़ता से संयुक्त; साधवः—शुद्ध भक्तगण; सम-दर्शनाः—समदर्शी; वशे—नियंत्रण में; कुर्वन्ति—कर लेते हैं; माम्—मुझको; भक्त्या—भक्ति से; सत्-स्त्रियः—सती स्त्रियाँ; सत्-पतिम्—अपने सदाचारी पति को; यथा—जिस तरह।

जिस तरह सती स्त्रियाँ अपने भद्र पतियों को अपनी सेवा से अपने वश में कर लेती हैं उसी प्रकार से समदर्शी एवं हृदय से मुझमें अनुरक्त शुद्ध भक्तगण मुझको पूरी तरह अपने वश में कर लेते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक का *समदर्शनाः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। शुद्ध भक्त वास्तव में सब के प्रति समभाव रखता है, जैसी कि *भगवद्गीता* (१८.५४) में पुष्टि की गई है—*ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति । समः सर्वेषुभूतेषु*। शुद्ध भक्त होने पर ही विश्वबन्धुत्व सम्भव है (*पण्डिताः समदर्शिनः*)। शुद्ध भक्त विद्वान् होता है क्योंकि वह अपनी स्वाभाविक स्थिति को जानता है, भगवान् की स्थिति को जानता है और जीव तथा भगवान् के पारस्परिक सम्बन्ध को जानता है। इस तरह उसे पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान रहता है और वह स्वतः मुक्त हो जाता है (*ब्रह्मभूतः*)। इसलिए वह हर व्यक्ति को आध्यात्मिक स्तर पर देख सकता है। वह सारे जीवों के सुख तथा दुख को समझ सकता है। वह समझता है कि जो उसके लिए सुख है वही दूसरों के लिए सुख है और जो उसके लिए दुख है वही दूसरों के लिए दुख है। इस तरह वह हरएक के प्रति कारुणिक होता है। जैसा कि प्रह्लाद महाराज ने कहा है—

शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ-

मायासुखाय भरमुद्धहतो विमूढान्

(*भागवत ७.९.४३*)

लोगों को सांसारिक दुख इसलिए मिलते हैं क्योंकि वे भगवान् के प्रति अनुरक्त नहीं होते। इसलिए शुद्ध भक्त का मुख्य कार्य है कि वह अज्ञानी जनता को कृष्णभावनामृत का बोध कराये।

मत्सेवया प्रतीतं ते सालोक्यादिचतुष्टयम् ।

नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविप्लुतम् ॥ ६७ ॥

शब्दार्थ

मत्-सेवया—मेरी प्रेमाभक्ति में पूर्णरूपेण संलग्न रहने से; प्रतीतम्—स्वतः प्राप्त; ते—ऐसे भक्त पूर्णतया तुष्ट होते हैं; सालोक्य-आदि-चतुष्टयम्—चार प्रकार के मोक्ष (सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य तथा सार्ष्टि, सायुज्य का तो कहना ही क्या); न—नहीं; इच्छन्ति—इच्छा करते हैं; सेवया—केवल भक्ति से; पूर्णाः—पूर्ण; कुतः—कोई प्रश्न ही नहीं है; अन्यत्—अन्य वस्तुएँ; काल-विप्लुतम्—कालक्रम से विनष्ट होने वाली ।

मेरे जो भक्त मेरी प्रेमाभक्ति में लगे रहकर सदैव सन्तुष्ट रहते हैं वे मोक्ष के चार सिद्धान्तों (सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य तथा सार्ष्टि) में भी तनिक रुचि नहीं रखते यद्यपि उनकी सेवा से ये उन्हें स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। तो फिर स्वर्गलोक जाने के नश्वर सुख के विषय में क्या कहा जाए?

तात्पर्य : श्रील बिल्वमंगल ठाकुर ने मोक्ष का मूल्यांकन इस प्रकार किया है—

मुक्तिः स्वयं मुकुलिताञ्जलिः सेवतेऽस्मान् धर्मार्थकामगतयः समयप्रतीक्षाः

उन्हें अनुभव हुआ कि यदि कोई भगवान् के प्रति अपनी सहज भक्ति विकसित कर लेता है तो मुक्ति उसकी पूर्णरूपेण सेवा करने के लिए हाथ जोड़े खड़ी रहती है। दूसरे शब्दों में, भक्त पहले से मुक्त रहता है। उसे भिन्न प्रकार की मुक्ति पाने के लिए आकांक्षा करना व्यर्थ है। शुद्ध भक्त को बिना चाहे ही स्वतः मुक्ति प्राप्त होती है।

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् ।

मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ

साधवः—शुद्ध भक्तगण; हृदयम्—हृदय में; मह्यम्—मेरे; साधूनाम्—शुद्ध भक्तों के भी; हृदयम्—हृदयों में; तु—निस्सन्देह; अहम्—मैं हूँ; मत्-अन्यत्—मेरे अतिरिक्त अन्य कुछ; ते—वे; न—नहीं; जानन्ति—जानते हैं; न—नहीं; अहम्—मैं; तेभ्यः—उनकी अपेक्षा; मनाक् अपि—एक अंश भी।

शुद्ध भक्त सदैव मेरे हृदय में रहता है और मैं शुद्ध भक्त के हृदय में सदैव रहता हूँ। मेरे भक्त मेरे सिवाय और कुछ नहीं जानते और मैं उनके अतिरिक्त और किसी को नहीं जानता।

तात्पर्य : चूँकि दुर्वासा मुनि महाराज अम्बरीष को प्रताड़ित करना चाहते थे, इसका अर्थ यह हुआ कि वे भगवान् के दिल को दुखाना चाहते थे क्योंकि भगवान् का वचन है—साधवो हृदयं मह्यम्—शुद्ध भक्त सदैव मेरे हृदय में रहता है। भगवान् की भावनाएँ उस पिता के समान होती हैं जो अपने बच्चे को पीड़ा में देखकर पीड़ा का अनुभव करता है। अतएव भक्त के चरणकमलों पर किये गये अपराध गम्भीर होते हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने जोरदार शब्दों में संस्तुति की है कि किसी को भक्त के चरणकमलों पर अपराध नहीं करना चाहिए। ऐसे अपराधों की तुलना उस मतवाले हाथी से की जा सकती है जो बगीचे में घुसकर उत्पात मचा देता है। अतएव शुद्ध भक्त के चरणकमलों पर अपराध न करने के लिए अत्यधिक सतर्क रहना चाहिए। वस्तुतः महाराज अम्बरीष का तनिक भी दोष न था; दुर्वासा मुनि उन्हें व्यर्थ ही प्रताड़ित करना चाहते थे। महाराज अम्बरीष ने भगवान् को प्रसन्न करने के लिए भक्ति का अंगस्वरूप एकादशी पारण पूरा करना चाहा, अतएव उन्होंने थोड़ा सा जल पी लिया। यद्यपि दुर्वासा मुनि महान् योगी ब्राह्मण थे, किन्तु वे यह नहीं जानते थे कि यह सब क्या है। एक शुद्ध भक्त तथा वैदिक ज्ञान के तथाकथित पंडित में यही अन्तर होता है। भक्तगण सदैव भगवान् के हृदय में स्थित होने के कारण सीधे भगवान् से सारे आदेश प्राप्त करते

हैं जैसा कि भगवद्गीता (१०.११) में स्वयं भगवान् पुष्टि करते हैं—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

“मैं उनके हृदयों में वास करते हुए उन पर दया करने के कारण अज्ञानजन्य अंधकार को ज्ञान के दीपक से नष्ट करता हूँ।” भक्त ऐसा कोई कार्य नहीं करता जिसकी अनुमति भगवान् नहीं देते। जैसा कि कहा गया है—*वैष्णवे क्रियामुद्रा विज्ञेह ना बुझय।* यहाँ तक कि अत्यन्त विद्वान या अनुभवी व्यक्ति भी वैष्णव या शुद्ध भक्त की गतिविधियों को नहीं जान सकता। अतएव किसी को शुद्ध वैष्णव की आलोचना नहीं करनी चाहिए। वैष्णव अपने कार्य को सही ढंग से जानता है और वह जो कुछ करता है वह सही होता है क्योंकि वह सदैव भगवान् से मार्गदर्शन प्राप्त करता है।

उपायं कथयिष्यामि तव विप्र शृणुष्व तत् ।

अयं ह्यात्माभिचारस्ते यतस्तं याहि मा चिरम् ।

साधुषु प्रहितं तेजः प्रहर्तुः कुरुतेऽशिवम् ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ

उपायम्—इस भयावह स्थिति से बचने का उपाय; कथयिष्यामि—तुम्हें बतलाऊँगा; तव—इस संकट से तुम्हारे उद्धार का; विप्र—हे ब्राह्मण; शृणुष्व—मुझसे सुनो; तत्—जो मैं कहूँ; अयम्—तुम्हारे द्वारा की गई कार्यवाही; हि—निस्सन्देह; आत्म-अभिचारः—स्वयं से ईर्ष्या (तुम्हारा मन ही तुम्हारा शत्रु बन गया है); ते—तुम्हारे लिए; यतः—जिसके कारण; तम्—उसको (अम्बरीष महाराज को); याहि—तुरन्त जाओ; मा चिरम्—एक क्षण भी देरी न करो; साधुषु—भक्तों को; प्रहितम्—प्रयुक्त; तेजः—शक्ति; प्रहर्तुः—कर्ता का; कुरुते—करता है; अशिवम्—अमंगल।

हे ब्राह्मण, अब मैं तुम्हारी रक्षा के लिए उपदेश देता हूँ। मुझसे सुनो। तुमने महाराज अम्बरीष का अपमान करके आत्म-द्वेष से कार्य किया है। अतएव तुम एक क्षण की भी देरी किये बिना तुरन्त उनके पास जाओ। जो व्यक्ति अपनी तथाकथित शक्ति का प्रयोग भक्त पर करता है उसकी वह शक्ति प्रयोक्ता को ही हानि पहुँचाती है। इस प्रकार कर्ता (विषयी) को हानि पहुँचती है विषय को नहीं।

तात्पर्य : वैष्णव सदा से अभक्तों की ईर्ष्या का विषय बनता रहा है चाहे वह अभक्त उसका पिता ही क्यों न हो। उदाहरणार्थ, हिरण्यकशिपु अपने पुत्र प्रह्लाद महाराज से ईर्ष्या करता था लेकिन यह ईर्ष्या प्रह्लाद के लिए नहीं अपितु हिरण्यकशिपु के लिए घातक सिद्ध हुई। हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र के विरुद्ध जितनी भी कार्यवाहियाँ कीं, उन्हें भगवान् गम्भीरतापूर्वक देखते रहे और जब हिरण्यकशिपु प्रह्लाद को मारने ही

वाला था तो भगवान् साक्षात् प्रकट हुए और हिरण्यकशिपु को मार डाला। वैष्णव के प्रति की गई सेवा धीरे-धीरे संचित होती रहती है और भक्त के लिए वही सम्पत्ति बन जाती है। इसी प्रकार भक्त के विरुद्ध किये गये हानिप्रद कार्यकलाप धीरे-धीरे कर्ता के पतन के कारण बनते हैं। दुर्वासा जैसा महान् ब्राह्मण एवं योगी भी घोर संकट में था क्योंकि उसने शुद्ध भक्त महाराज अम्बरीष के चरणकमलों पर अपराध किया था।

तपो विद्या च विप्राणां निःश्रेयसकरे उभे ।
ते एव दुर्विनीतस्य कल्पेते कर्तुरन्यथा ॥ ७० ॥

शब्दार्थ

तपः—तपस्या; विद्या—ज्ञान; च—भी; विप्राणाम्—ब्राह्मणों की; निःश्रेयस—उन्नति के लिए अत्यन्त शुभ है जो उसका; करे—कारण हैं; उभे—दोनों; ते—ऐसी तपस्या तथा विद्या; एव—निस्सन्देह; दुर्विनीतस्य—उद्धत व्यक्ति का; कल्पेते—हो जाते हैं; कर्तुः—कर्ता का; अन्यथा—विपरीत।

ब्राह्मण के लिए तपस्या तथा विद्या निश्चय ही कल्याणप्रद हैं, किन्तु जब तपस्या तथा विद्या ऐसे व्यक्ति के पास होती हैं जो विनीत नहीं है तो वे अत्यन्त घातक होती हैं।

तात्पर्य : कहा जाता है कि मणि अत्यन्त मूल्यवान् होता है, किन्तु जब वह साँप के फण में होता है तो मूल्यवान् होते हुए भी घातक होता है। इसी प्रकार जब भौतिकतावादी अभक्त विद्या तथा तपस्या में महान् सफलता प्राप्त कर लेता है तो वह सारे समाज के लिए घातक बन जाता है। उदाहरणार्थ, तथाकथित विद्वान् वैज्ञानिकों ने परमाणु हथियारों का आविष्कार किया है जो सारी मानवता के लिए घातक है। अतएव कहा जाता है—*मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः*। मणिधारी सर्प मणिविहीन सर्प की ही तरह घातक होता है। दुर्वासा मुनि अत्यन्त विद्वान् ब्राह्मण थे जिनके पास योगशक्ति थी, किन्तु भद्रपुरुष न होने के कारण उन्हें अपनी शक्ति का प्रयोग करना नहीं आता था। अतः वे अत्यन्त घातक थे। भगवान् कभी भी ऐसे घातक व्यक्ति की ओर प्रवृत्त नहीं होते जो किसी निजी कार्य के लिए अपनी योगशक्ति का प्रयोग करता है। अतः प्रकृति के नियमानुसार शक्ति का दुरुपयोग अन्ततः न केवल समाज के लिए घातक बनता है अपितु शक्ति का दुरुपयोग करने वाले व्यक्ति के लिए भी।

ब्रह्मंस्तद्गच्छ भद्रं ते नाभागतनयं नृपम् ।
क्षमापय महाभागं ततः शान्तिर्भविष्यति ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; तत्—अतएव; गच्छ—जाओ; भद्रम्—कल्याण हो; ते—तुम्हारा; नाभाग-तनयम्—महाराज नाभाग के पुत्र; नृपम्—राजा (अम्बरीष) को; क्षमापय—उसे जाकर शान्त करने का यत्न करो; महा-भागम्—महापुरुष, शुद्ध भक्त; ततः—तत्पश्चात्; शान्तिः—शान्ति; भविष्यति—हो जायेगी।

अतएव हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, तुम तुरन्त महाराज नाभाग के पुत्र राजा अम्बरीष के पास जाओ। मैं तुम्हारे कल्याण की कामना करता हूँ। यदि तुम महाराज अम्बरीष को प्रसन्न कर सके तो तुम्हें शान्ति मिल जायेगी।

तात्पर्य : इस प्रसंग मे मध्व मुनि ने गरुड़ पुराण से निम्नलिखित उद्धरण दिया है—

ब्रह्मादिभक्तिकोट्यंशाद् अंशो नैवाम्बरीषके ।

नैवन्यस्य चक्रस्यापि तथापि हरिरीश्वरः ॥

तात्कालिकोपचेयत्वात् तेषां यशस आदिराट् ।

ब्रह्मादयश्च तत्कीर्ति व्यञ्जयाम् आसुरुत्तमाम् ॥

मोहनाय च दैत्यानां ब्रह्मादे निन्दनाय च ।

अन्यार्थं च स्वयं विष्णुर्ब्रह्माद्याश्च निराशिषः ॥

मानुषेषूत्तमात्वाच्च तेषां भक्त्यादिभिर्गुणै ।

ब्रह्मादेर्विष्ण्वधीनत्वज्ञापनाय च केवलम् ॥

दुर्वासाश्च स्वयं रुद्रस्तथाप्यन्यायामुक्तवान् ।

तस्याप्यनुग्रहार्थाय दर्पनाशार्थमेव च ॥

महाराज अम्बरीष तथा दुर्वासा मुनि विषयक इस कथा से यह शिक्षा ग्रहण की जा सकती है कि ब्रह्माजी तथा शिवजी समेत सारे देवता भगवान् विष्णु के अधीन हैं। अतएव जब किसी वैष्णव का अपमान होता है तो भगवान् विष्णु उस अपमानकर्ता को दण्ड देते हैं। ऐसे व्यक्ति को कोई भी बचा नहीं पाता, यहाँ तक कि ब्रह्माजी या शिवजी भी नहीं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध के अन्तर्गत “दुर्वासा मुनि द्वारा अम्बरीष महाराज का अपमान” नामक चौथे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।